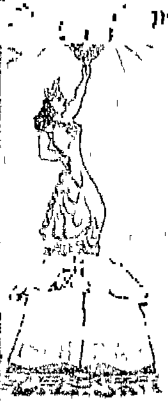


युग जीवन
के
साहित्यिक निबंध

युग जीवन के साहित्यिक निबंध

* *

लेखक

शिखरचन्द जैन, माहित्यरत्न

रचयिता

सूर: एक अध्ययन, नारी हृदय की अभिव्यक्ति,
हिन्दी काव्य चिंतन, जीवन की बूँदें, कलिकाएँ आदि

प्रकाशक

नरेन्द्र साहित्य कुटीर,
मोतीमहल, सीतवारिया, इन्दौर

* *

मूल्य दो रुपया बारह आना

निबंध-सूची

प्रकाशकीय

युग जीवन के साहित्यिक निबंध

प्रकाशन का उद्देश्य

बहुत दिनों से हमारी इच्छा लेखक के सारे ग्रन्थों को दो जिल्दों में—एक में आलोचना और निबंध तथा दूसरे में उसकी विभिन्न कृतिएँ जिनमें कविताएँ, कहानिएँ, अनुभूति काव्य, बालोपयोगी एवं अन्य रचनाएँ—प्रकाशित करने की थी। ये जिल्दें लगभग एक एक हजार पृष्ठों की हुई होती। परन्तु इन्दौर में प्रेस, कागज की कठिनाइयों तथा अन्य कारणों से हमें अपने इस विचार को स्थगित रखना पड़ा। इसी कारण सूर: एक अध्ययन का भी प्रकाशन नहीं हो सका था। वह भी अब हो गया है। साथ ही कतिपय भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर इन निबंधों को प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ की विशेषताएँ

[१] इसमें लेखक के आलोचनात्मक तथा अन्य निबंध हैं जिनमें उसके चिन्तन के सब गुण सार रूप में मिलते हैं।

[२] लेखक के प्रारम्भिक जीवन से अब तक की विभिन्न प्रवृत्तियों, लेखन शैलियों, भाषा और भावों के विकास-क्रम का परिचय मिलता है।

[३] इन निबंधों के द्वारा पाठक लेखक के संबंध में एक अच्छी खुदी धारणा बना सकता है।

[४] लेखक द्वारा लिखित साहित्य का पाठक थोड़े में, पर गूढ़े रूप में परिचय प्राप्त कर सकता है।

[५] इंटर से एम. ए. तथा मध्यमा, उत्तमा तथा इनके समकक्ष के छात्र इनका उपयोग अपनी विभिन्न परीक्षाओं के लिए कर सकते हैं।

[६] इन निबंधों को पढ़कर लेखक के साहित्य के पठन-पाठन की ओर साहित्य प्रेमियों की रुचि पैदा हो सकती है।

[७] अब तक उसका साहित्य पढ़ा और प्रशंसित होता रहा, परन्तु किसी का ध्यान उसकी ओर नहीं गया। संभवतः इस प्रकाशन से उसकी आंशिक पूर्ति हो जाय।

इन्दौर
जून, १९४९

—प्रकाशक

छायावाद और कतिपय आधुनिक कवि

आधुनिक हिन्दी कविता में छायावाद का बोलबाला है, परन्तु यह विवाद का विषय भी साथ ही साथ इसलिये हो गया है कि इसके पक्ष और विपक्ष दोनों में भ्रम पूर्ण विचार फैले हुए हैं। जो इसके विपक्ष में हैं, वे इसे दुरूह, अस्पष्ट, तथा प्रसाद गुण-हीन मान इसे काव्य में स्थान देना नहीं चाहते, वे तो जो कविता समझ में न आवे, उसे ही छायावाद के अंतर्गत मानकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। बहुत समय तक इसलिए कवि की हृदयगत भावनाओं को न समझने के कारण वे भूल करते और उसका प्रचार करते रहे हैं। वास्तव में यदि छायावाद की कविताएँ अनुभूति-रहित या मानव-जीवन के परे रही होतीं तो इतनी व्यापकता के साथ जन-समूह और साहित्यिकों के हृदय में स्थान नहीं पातीं, और धीरे धीरे इनका चलन बंद हो जाता, परन्तु आज इनका प्रचार अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। यह बात इनकी सफलता और तथ्यांश की द्योतक है।

वास्तव में स्थिति यह रही कि जब पं. 'माखनलाल चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा, प्रसाद, पंत आदि अपनी भावपूर्ण रचनाओं को लेकर हिन्दी साहित्य में आये, तब हिन्दी साहित्य और उसके सामाजिकों का स्तर, इतना ऊँचा और परिष्कृत नहीं था कि वह अंग्रेजी या पाश्चात्य साहित्य तथा बंग अथवा अन्य विकसित भाषा के समक्ष होता। इसलिए भावों को व्यक्त करने के लिये जब इन सुकवियों ने अपना अपना मार्ग निकाला तो बहुत से विद्वानों को जो केवल प्राचीन रूढ़ियों पर अव-

लम्बित काव्य का ही अनुवाद करते रहे थे, बड़ा अटपटा लगा और वे इसके स्वागत के लिये तैयार नहीं हुए।

'छायावाद कवि के हृदय और मस्तिष्क के कोमल क्षणों की सृष्टि है, जिसमें देखा जाय तो मनोवैज्ञानिक ढंग से कवि की अनुभूतियों की प्रकृति और प्रकृति से परे जो प्रकृति पुरुष है, उसके प्रति स्फुरण है' इसलिए कोई कोई विद्वान इसे 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहते हैं'। इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दी साहित्य में अब तक जो वर्णनात्मक, पौराणिक और इतिवृत्तात्मक कविताएँ द्विवेदीजी के प्रभाव में रहने वाले कवि जैसे गुप्तजी, हरिऔधजी, श्रीधर-पाठक रामनरेश त्रिपाठी करते आ रहे थे और जिनका उद्देश्य ब्रज भाषा की प्राचीन परम्परा के स्थान पर खड़ी बोली के आदर्श और उदाहरण को रखना था, उनके विरुद्ध पाश्चात्य ढंग पर और रवीन्द्र की गंभीर व भावात्मक प्रणाली देना था।

हाँ, छायावाद के अंतर्गत किसी भी कारण से हो, रहस्यात्मक भावनाएँ मिल चुकी हैं। इसका परिणाम यह निकला कि बहुत समय तक तो लोग छायावाद और रहस्यवाद को एक ही समझते रहे तथा अब छायावाद में हठयोगी, रहस्यवादी कवियों के समान कुछ 'सांकेतिक' शब्दावली निश्चित होकर आगई है। इसलिए यदि दोनों में लोग भ्रम से एकता स्थापित करते रहें, तो कोई विशेष अनुचित बात नहीं, छायावादी कवियों ने 'उषा, नौका, संध्या, समीर, सनन, नन्न झुनझुन, नीरद, झंझा, हिलोरें, पुष्प आदि ऐसे प्राकृतिक शब्दों का अथवा उपमानों का प्रयोग किया है, इसलिए ये रहस्यवाद के कुछ निकट अवश्य पहुँच जाते हैं।

हाँ! एक बात और है। ये अपनी भावनाओं के जिन्हीं गंभीरतओं में पहुँच कर प्राकृतिक पदार्थों से अपने हृदय का सामंजस्य स्थापित

करते हैं, और अपने भाव, अपनी भाषा में उन्हें साकार मान व्यक्त करते हैं। इसलिए भी छायावाद रहस्यवाद के निकट पहुँच जाता है।

रहस्यवाद के दो स्वरूप पाये जाते हैं। एक तो वह जिसमें अभिव्यक्ति की वह चरम सीमा रहती है, जिसमें कवि ईश्वर या ब्रह्म से साक्षात्कार करता है; उसे सारा विश्व रेखामय और उसकी आत्मा सारे विश्व में व्यापक दिखाई देती है। वह उपनिषदों के समान आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, प्रकृति तथा इनकी गंभीरता से आत्म-चिंतन और आत्म-सम्मिलन करता है, दूसरा वह स्वरूप है जिसमें गोरख-पंथी साधु अथवा कबीर की वे शारीरिक क्रियाएँ आ जाती हैं, जिनमें प्राणायाम और स्वाँस आदि को रोककर त्रिकुटी आदि पर अधिकार रख उसका सम्मिलन किया जाता है और एक नारी के समान पति परमेश्वर को छूने की आकांक्षा व्यक्त होती है।

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त भी कुछ अंशों से छायावादी कवि कहे जा सकते हैं। यद्यपि इस ओर ये प्रसाद, पंत आदि से बाद में आये और इनका उन्होंने अनुकरण ही किया। यह इसलिए कि आपने उस समय कविता करना प्रारंभ किया था, जिस समय खड़ी बोली में कविता करने पर जोर दिया जा रहा था। उस समय एक पक्ष ब्रज-भाषा कविता का समर्थन करता था। दूसरा पक्ष जिसमें द्विवेदीजी प्रमुख थे, यह बताने की चेष्टा कर रहा था कि अंग्रेजी ढंग पर देश की बोलचाल की भाषा में भी कविता की जाय। इसी की पुष्टि पर द्विवेदीजी और उनके अनुकरण पर चलने वाले कवियों ने रचनाएँ प्रस्तुत की। गुप्तजी भी उनमें से एक हैं।

गुप्तजी हमारे सामने राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि कवि हैं। यह भी उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। क्योंकि इन्होंने जहाँ आरंभ में इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक कविताएँ लिखीं, जिनमें संस्कृत के अभि-

कोश शब्द आ गये हैं, और भाषा प्रसाद गुण होते हुए भी मिठास पूर्ण रही है, वहाँ दूसरी ओर उसकाल से आज तक हिन्दी कविता में जो जो युग आये, उनमें गुप्तजी ने पूरा योग दिया। कविता जब छायावाद की ओर आने लगी तो गुप्तजी का भावस्फुरण भी 'झंकार' के रूपमें हुआ। जब खंड या महाकाव्य रचना की ओर हिन्दी के इने-गिने कवि झुके तब गुप्तजी ने बड़ी ही मनोरमा और भाव-पूर्णता के साथ 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'साकेत' आदि काव्य ग्रन्थों की सृष्टि की। जब आज सामान्य जीवन वर्ग-कथन अथवा प्रगतिवाद की ओर झुका तो गुप्तजी से भी यह क्षेत्र छूटा नहीं। अतः गुप्तजी सच्चे रूप में हमारे प्रतिनिधि कवि कहलाये जा सकते हैं।

गुप्तजी की कविता की तीसरी विशेषता यह है कि उसमें कहीं दुरूहता नहीं है। वह प्रसाद गुण युक्त है। यद्यपि कहीं कहीं भाषा संस्कृत शब्दावली होने से कुछ कुछ ऊबड़-खाबड़ भी दिखाई देती है, परन्तु भावों और भाषा की शुद्धता, सुन्दरता इतनी अधिक है कि यह दोष नगण्य है। कविताएँ हृदय छूने वाली और लोक-प्रिय वाणी में लिखती हैं, जिनमें वे राष्ट्र और समाज के प्रति सदैव सजग रहे हैं। संस्कृत शब्दों के साथ हिन्दी के अनेक छंदों का सफल प्रयोग भी इन्होंने किया है और विषयों के अनुसार उनको बदल कर काव्यगत सुन्दरता की पूर्ण रीति से रक्षा की है।

मूलतः गुप्तजी राम भक्त हैं, और इनमें ही इनका स्थान होना चाहिए। परन्तु राष्ट्रीयता और व्यापक दृष्टि होने के कारण तुलसी के समान इन्होंने भी 'कृष्ण काव्य' और अनेक पौराणिक आख्यान लिखे हैं। इन्होंने हिन्दी की जितनी सेवा की है, उतनी अनेक कवि भी नहीं कर सकते हैं। खण्ड या महाकाव्य रचना की ओर तो हिन्दी के इने गिने कवि ही प्रवृत्त हुए हैं, उनमें गुप्तजी भी एक मुख्य हैं।

काव्यगत चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी गुप्तजी अपनी सानी नहीं रखते हैं। गोस्वामीजी के संबन्ध में यह कहा जाता है कि उन्होंने उर्मिला और कैकेयी का चरित्र-चित्रण नहीं किया है, यह एक अभाव था, जो गुप्तजी ने दूर कर दिया है।

गुप्तजी के पात्रों में चरित्र-चित्रण की विशेषता की दृष्टि से लक्ष्मण, उर्मिला, कैकेयी, भरत, यशोधरा, आदि बड़े ही महत्त्व-पूर्ण हैं।

कवि की विशेषता मार्मिक स्थलों के चुनाव में प्रकट होती है। गुप्तजी का यह गुण पंचवटी में पार्वत्य प्राम्य चित्रण और लक्ष्मण चरित्र की महानता और विशदता में प्रकट होता है। इसी प्रकार 'साकेत' के प्रथम दो सर्गों में लक्ष्मण और उर्मिला का वार्तालाप बहुत ही भव्य बन पड़ा है, तथा साकेत में ही ८ वें तथा नवें सर्गों में सुन्दर-तम वन्य और वियोग-पूर्ण-जीवन का अपूर्व-चित्रण है। 'यशोधरा' में गुप्तजी ने जैसे नारी हृदय की कसमसाहट को सरसता से व्यक्त किया है। 'काबा' आदि रचनाओं में हिन्दू मुस्लिम एक्य का प्रदर्शन हुआ है। इसी प्रकार 'भारत-भारती' में राष्ट्रीयता और 'हिन्दू' काव्य में हिन्दुत्व की श्रेष्ठता का विधान मिलता है।

'प्रसाद' के नाम के साथ हमारा भक्ति काल के तीन महा-कवियों की ओर ध्यान चला जाता है। उस समय 'कबीर' ने हिन्दी के मार्ग को भावों की दृष्टि से सबल और उसमें भाव प्रकाशित की दृष्टि से योग्य बनाया किन्तु भाषा कुछ लड़खड़ा रही। 'सूर' ने भाषा को भावों और प्रकाशन के साथ मनोरम बनाया और इनके बाद 'तुलसी' ने सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। ठीक इसी प्रकार आधुनिक काल में गुप्तजी ने खड़ी बोली में काव्य रचना की जाने की योग्यता प्रदर्शित की तो 'सुमित्रानंदनपंत' ने हिन्दी कविता को भाषा की दृष्टि

से सुन्दर भावपूर्ण, अनेक भाव-वाचक शब्दों से परिपूर्ण किया। 'प्रसाद' जी ने गुप्त और पंत के सारे गुणों के साथ कविता को बहुमुख दृष्टिकोण, गम्भीरतापूर्ण रसपरिपाक, भावपूर्णता और उच्चकोटि की अमर प्रबन्ध काव्य की कुशलता प्रदान की।

'प्रसाद' तुलसी के समान सर्वतोमुखी प्रतिभा के कवि, नाटककार, आलोचक, लेखक, उपन्यास लेखक आदि सभी कुछ थे। प्रसाद जी के सारे काव्यों में उच्चकोटि की दार्शनिकता, ऐतिहासिक, अनुसंधान-शीलता और तहों को उलटते जाने का मार्ग तथा अमर काव्य की पूर्णता मिलती है।

'पंत'जी का जीवन प्रकृति की गोद में पला है। बचपन से ही उन्होंने पार्वत्य, सुरम्य प्रदेशों में विचरण किया है। उनके इस भ्रमण और निरीक्षण का परिणाम उनके काव्य पर भी आ पड़ा। वे हमारे आधुनिक युग के 'सूर' कहे जा सकते हैं। अन्धे सूर ने जैसे बाल-जीवन के अनूठे चित्र खींचे हैं और उनके क्रिया कलाप का सांगोपांग वर्णन किया है, उसी प्रकार से पंतजी ने भी प्रकृति से प्रेरणा और भावना ग्रहण कर अपने काव्य को अपूर्व सुन्दरता और कोमलता प्रदान की है। भाषा की दृष्टि से भी वे समयानुसार चले हैं। कोमलकांत पदावली के वे अग्रगण्य एवं प्रमुख कवि हैं और प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण करते हैं।

पंत ने नये नये शब्दों का संचय और गठन किया है, जो भावों के अनुरूप प्रभाव डालते हैं। इसी भाषा, भाव के आवरण में पंतजी ने गुप्तजी के बाद की सारी विचार-धाराओं को अपना लिया है। कहीं कहीं उनकी अपनी भी कई मौलिक देन है।

काव्यात्मक सौंदर्य की पूरी पूरी अनुभूति पंत के काव्य में पाई जाती है। उनमें कल्पना अवश्य है और उसमें चित्र और मानव-

जीवन के विकास की रूप रेखाएँ प्राप्त होती हैं। रहस्यवादी कवियों के समान इनमें भी यत्र तत्र रहस्यात्मक प्रवृति पाई जाती है। परन्तु वह कहीं भी न तो गंभीर हो पाई है, और न स्पष्ट और अरुचिपूर्ण ही। जीवन को इन्होंने बड़े ही उल्लास पूर्ण हृदय से देखा है। उसमें सरस, प्रसाद-गुणयुक्त, दार्शनिकता भी है। परन्तु वह दार्शनिकता विचार बोझिल, रूखी अथवा शास्त्रीय ढाँचे की नहीं है। वह तो सच्चे कवि का हृदय स्फुरण है।

छायावादी कवि तो पंतजी पूर्णतया कहे जाते हैं ही और इसलिये पंतजी ने इस प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। छायावाद के अनुयायी होने के साथ साथ ही आपने प्रतिवाद को भी अछूता नहीं छोड़ा है। गांधी, साम्य और समाजवाद आदि की प्रगतिक्रिया ही प्रगतिवाद है। इन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। ये आधुनिक छायावादी कवियों के गुरु और नेता भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि सबसे पहले पंतजी ने ही शब्दगत रचना के साथ साथ पाश्चात्य ढंग पर छायावाद को हिन्दी में अवतरित किया और इसका सबसे अधिक अनुकरण आज कल के कवियों ने किया है। काव्य के क्षेत्र में पंतजी, महादेवीजी के पहले तो आए ही हैं, परन्तु प्रसाद से वय और काव्य में बाद में आकर भी छायावाद के क्षेत्र में अग्रगण्य हैं।

पंत में छायावाद के बाद प्रगतिवाद और आदर्शवाद की प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं। 'गुंजन, युगान्तर, युगवाणी और ग्राम्या' इसके उदाहरण हैं। पहले पंतजी सामान्य प्रकृति-चित्रण और शब्दों की कोमलता की ओर झुके, फिर शिवम्-सुन्दरम् की ओर। अंत में अब विश्व मानव-जीवन के व्यापक तत्वों की ओर भी आ गये हैं, जिनमें जीवन की बहुमुखी दिशाएँ प्राप्त होती हैं। सुन्दरम् में उनका नारी-चित्रण आ जाता है, शिवम् में ईश साक्षात्कार। उसी प्रकार

कहीं कहीं आत्मोत्कर्ष, सामाजिक अभ्युदय, बौद्धिक भावात्मकता भी आ चली है।

युग की परिस्थितियों से इस कवि के सुलभ कोमल हृदय में ऊब लगी और परिणामतः उसने अनेक सहानुभूति-पूर्ण मार्मिक चित्र खींचे। इनकी भाषा में कोमलता और उसमें सौंदर्य तथा शब्द-ध्वनि की परख पाई जाती है। इस कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी आत्मा सदा प्रकृति के प्रति जागरूक, सौंदर्य और कोमलता के चित्रण में लीन और प्रकृति के प्रत्येक विषय में सिहरन से युक्त रही है।

श्री माखनलालजी चतुर्वेदी की यथार्थ शिक्षा अधिक नहीं हुई है, और इन्होंने अपना जीवन एक सामान्य प्रायमरी स्कूल कक्षा के शिक्षक से प्रारम्भ किया, किन्तु इस साहित्यकार में क्या कविता! क्या लेखन शैली! और क्या वक्तृत्व कला! सब दृष्टियों से उच्च कोटि की प्रतिभा पाई जाती है। तीनों क्षेत्रों में यह कवि समान रूप से अधिकार रखता है। ईश ने इसकी लेखनी और वाणी को जैसे अपना वरदान दिया हो। भावना और कल्पना के क्षेत्रों में तो यह उदार व गंभीर रहा है। वर्षों से साहित्य और राजनीति के अन्तर कार्य करते करते इसकी काव्य कला पुष्ट होकर निखर गई है। 'प्रभा, प्रताप और कर्मवीर के संपादन में इन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। नाम की अभिलाषा न होने से वर्षों तक ये 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से कविता करते रहे, और लोग इनसे परिचित न होने पाये। राष्ट्रीयता की ओर झुकने, कार्य करने और जेल जीवन बिताने के कारण ये साहित्य के क्षेत्र में भी जरा देर से परिचित हुए। प्रारंभ में संभवतया देश-भक्ति भावना अधिक होने से इनका झुकाव राष्ट्रीयता की ओर रहा। इसलिए भारत की पराधीन अवस्था में जो कविताएँ इन्होंने

लिखीं उनमें 'भारत की स्वतन्त्रता के प्रति अपूर्व मोह और आकांक्षा प्रकट होती है। इनमें बलिदान, संकल्प, माता की बेड़ियों के बन्धनों को तोड़ने की अभिलाषा मिलती है। यद्यपि ये क्रांतिकारी नहीं रहे तथापि इनमें क्रांतिकारी भावनाएँ और आवेश प्रचुरता से मिलते हैं, और चूँकि ये राष्ट्रीय सेनानी रहे हैं और पिछले तीस वर्षों से ये देश-भक्ति की आग में अपने को झोंकते रहे हैं, इनकी इस प्रकार की कविताओं में पूर्ण ओज, वास्तविकता और कल्पना की सचाई मिलती है। 'ये शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल तथा विचारों से क्रांतिकारी हैं।' अतः इनके साहित्य में ये चारों प्रवृत्तियें मिल रही हैं।

ये भावना, कल्पना और शब्द रचना की बारीकी के कवि कहे जा सकते हैं, जिनमें सूफियों की सी प्रेमाकुलता और कातरता के साथ सूक्ष्म कल्पना मिलती है। ये कृष्ण-भक्त कवि हैं। इनमें शृंगारिकता भी है, परन्तु इसमें कबीर और सूफी कवियों के समान सरसता और पवित्रता मिलती है। यद्यपि इनके काव्यों में विचार भंग, भाव दुरूहता, शृंखला हीनता और अस्पष्ट कल्पना भी है, परन्तु ये बातें कहीं भी अनाकांक्षित नहीं हुई हैं, और न निम्नस्तर पर उतरी हैं। भाव लहरियें एक एक कविता में पृथक पृथक होने पर भी मिश्री की डलियों के समान आनंद-दायिनी होती हैं।

ये वे महारथी साहित्यकार हैं, जिन्होंने अनेक तरुण होनहार साहित्यकारों को प्रोत्साहन ही नहीं दिया, उनके साहित्यिक जीवनों का भी निर्माण किया है। सैकड़ों तरुण कच्चे रूपमें इस महारथी के सम्पर्क में आये और कवि, कलाकार, लेखक, पत्रकार, होकर निकलते रहे।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा से परिचय न होने पर भी निजत्व का सा

अनुभव होता है । आपके बड़े भाई 'राघव' कवि जब हरदा में रहे थे तब आप शायद पढ़ते थे । आपके एक छोटे भाई रामानुग्रह हरदा में ही मेरे सहपाठी और घनिष्ठ मित्र थे । उसी समय से सन् १९२४-२५ से आपकी भी कविताओं की प्रशंसा सुनता रहा हूँ । आप अपने उस जीवन में आज से कहीं अधिक प्रकाशित हुए थे और तब से बराबर हिंदी साहित्य को अपना जीवनार्घ्य चढ़ाते आ रहे हैं । इसके पश्चात् आप कई बार इन्दौर भी उत्तमा परीक्षा के परीक्षक रूप में आये थे और तब आप के सम्मान में आयोजित कवि सम्मेलनों में आपकी कविताएँ बड़ी ही सुरुचि के साथ सुनी जाती थीं । 'वे बाजरे तारों वाले' वाली कविता तो रसिकों ने अनेक बार आपसे सुनी है, और कभी तृप्ति प्राप्त नहीं की है ।

आप पर चतुर्वेदीजी का प्रभाव पड़ा है, किंतु यह केवल भाव तक ही सीमित है । शैली में आप चतुर्वेदीजी से सर्वथा भिन्न हैं । प्रभाव केवल रहस्यवादिता के ऊपरी स्तर तक तथा कविता की अभिरुचि तक ही सीमित है । हिंदी में रहस्यवादी अथवा छायावादी कविताओं के प्रवर्तकों में तो आप मेरी दृष्टि से पहिले ही कवि हैं । प्रसाद, पंत आपके समकालीन हैं तथा महादेवीजी तो आपके बाद रहस्यवादी एवं छायावादी कविताओं के क्षेत्र में बाद में आई हैं । परन्तु उक्त कविगण और महादेवीजी आज सर्व सामान्य की दृष्टि में अधिक हैं, और वर्माजी को यथोचित स्थान जिसके वे सर्वथा योग्य हैं, नहीं दिया जा रहा है ।

द्विवेदीजी ने अपने एक निबंध में छायावादी कवियों की अस्पष्ट कविता पर कुछ आक्षेप सा किया है । उन्होंने यद्यपि नाम निर्देश नहीं किया है, परन्तु संभवतः उनके मस्तिष्क में श्री वर्माजी का ही चित्र हो । पर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वर्माजी को कोई रहस्य-

वाद के क्षेत्र में कैसा भी स्थान क्यों न दे, उन्होंने हिन्दी में रहस्यवादी आधुनिक कविताओं को प्रारम्भ किया है, सरस ढंग से; उच्च कोटि के स्तर पर उन्हें वे लाये हैं और उन्होंने पश्चात् गामी कवियों के मार्ग को परिष्कृत किया है।

ऐसी ही कुछ बात श्री निरालाजी के संबंध में भी कही जा सकती है। हिन्दी में आप अपनी अपूर्व प्रतिभा, काव्यगत नवीनता और छंद के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लेकर आये। 'मतवाला' ने आपकी प्रतिभा को सँवारा, उत्थान दिया, और आपका मार्ग प्रशस्त किया, परन्तु कुछ तो नवीनता, नवीन मार्ग के कारण और कुछ अस्पष्टता और दुरूहता के कारण आप हिन्दी संसार में देर से समझे गये। इसका कारण आपका दार्शनिकता की ओर झुकाव है, ऐसा कहा जाता है। हमारी दृष्टि से दार्शनिकता तो आप में कम ही स्थलों पर पाई जाती है, किन्तु तीव्र और अपरिपक्व विचार-धारा के कारण संभवतः ऐसा हुआ है। आप वैसे कवि की दृष्टि से अधिक प्रशंसित और प्रसिद्ध हैं, परन्तु काव्य भाषा से आपके गद्य की भाषा कहीं अधिक प्रौढ़, ओजमयी और व्यवस्थित है, जिसमें उच्च कोटि का व्यंग, मार्मिकता और भाव प्रवणता मिलती है। उच्च कोटि के कवि के साथ आपको एक सफलतम गद्य लेखक कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा।

सर्वश्री सियाराम शरण गुप्त, उदयशंकर भट्ट, दिनकर, भगवती चरण वर्मा, अंचल आदि कविगण भी छायावादी कवियों में स्थान पाते हैं, परन्तु इनमें क्रमशः सात्विकता, पौराणिकता, गौरवमय अतीत की संवेदना, प्रगतिवादिता या यथार्थवादिता, मिलती है। 'अंचल' अवश्य छायावाद की ओर एक सीमातक जाते हुए दिखाई देते हैं।

काव्य के क्षेत्र में महादेवीजी प्रसाद, पंत और रामकुमार वर्मा

के पश्चात् आईं, परन्तु काव्य, भावगांभीर्य, और यश प्रसिद्धि की दृष्टि से ये प्रायः इनसे आगे निकल गईं। अंग्रेजी में शैली की उक्ति है। 'Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts' महादेवीजी की शैली इस उक्ति का जीवन है। और यही उनके काव्य भी मूल-धारा रही है।

महादेवीजी की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि प्रसाद, रवीन्द्र, आदि के समान इन्होंने काव्य के दूसरे अंगों पर भी उतना ही अधिकार प्रकट किया है। जो काव्यगत विशेषताएँ इनकी कविता में पाई जाती है वे ही सब गद्य, रेखाचित्र और कहानियों में दिखाई देती हैं। यह भी इनकी एक विशेषता है। न केवल इनका काव्य किन्तु गद्य भी संगीतमय कहानियों सा लहराता है। अपने साहित्य में संगीत के कारण ही इनका बहुत अधिक उत्थान हो सका है। काव्य में तो इनकी चित्रकला ने भी अपने निखार दे दिया है।

इनके काव्य और साहित्य की मूल भावना वेदना मूलक है। इन्होंने नश्वर संसार और मानव के हृदयों की अमर वेदना का बड़ी ही गहराई के साथ चित्रण किया है। इसमें करुणा ओत-प्रोत है। इस करुणा में प्रसाद के समान इन्होंने भी दार्शनिकता को स्थान दिया है। पर प्रसाद की दार्शनिकता जहाँ इतिहास अध्ययन और अतीत गौरव से गंभीर हो उठी है, वहाँ महादेवीजी की दार्शनिकता विश्व और मानव जीवन से परिपूर्ण है।

ये 'आधुनिक काल की मीरा' कही जा सकती हैं, क्योंकि इनका जीवन भी मीरा का अनुकरण ही रहा है। और मीरा में जैसे भक्ति-भावना और भावों की गंभीरता है, वैसी ही इनकी कविता में भी इसकी कोमलता, अलक्षित मार्मिक वेदना, और इस वेदना की अधिकतम अनुभूति महादेवीजी के काव्यों में मिलती है। मीरा की भाँति मानो

महादेवीजी भी आधुनिक भाषा और छायावाद में कहती हैं—'मेरे तो गिरधर नागर, दूसरा न कोई नाच-नाच गा-गा के लोक-लाज खोई।' ये भी मीरा के समान अपने इष्ट को अपने में ही देखना अधिक पसंद करती हैं। और इसीलिए बाह्य आडंबर से अपने को दूर रखती हैं।

'क्या पूजा क्या अर्चन रे!

उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे!!

इनकी समस्त रचनाओं में विषाद की गहरी छाया, हृदय का प्रत्येक स्पंदन, भावनाओं का एक एक कम्पन और अभावजन्य अवस्थाओं के भाव लहराते रहते हैं। करुणा का इतना व्यापक विस्तार किसी दूसरे कवि में नहीं मिलता है। छायावाद की भी ये प्रमुख लेखिका हैं, और रहस्यवाद से तो इन्हें जन्म-जात प्रेम है।

अभिनय-कला और रंग-मंच

मनुष्यों में आदि काल से दो प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। एक तो है नाचने गाने की प्रवृत्ति और दूसरी है अनुकरण करने की। बच्चों के समान ही मनुष्य में ये पाई जाती हैं। जैसे बालक माता, पिता, गुरु, नेता आदि का अनुकरण करता है वैसे ही मनुष्य भी अपने से बड़े नेता, महापुरुष, राजा, धनिक आदि का अनुकरण किया करता है। इसी प्रकार चाहे कोई व्यक्ति सभ्य देश का हो या असभ्य देश का मूलतः उसमें नाचने गाने की भावना पाई जाती है। मन नाच उठा, हृदय खिल गया आदि मुहावरे इसी बात के सूचक हैं। ऐसे ही जब मनुष्य हर्ष विभोर होता या अपने मन के हर्ष को प्रकट करना चाहता है, तब वह नाच गा कर ही प्रकट किया करता है। प्राचीन काल से आज तक सभ्य असभ्य जातियों में जो उत्सव त्योहार विवाह आदि क्रियाएँ होती हैं, इनमें नाच गायन का उपयोग होता रहा है। मनुष्य की इन्हीं प्रवृत्तियों ने नाट्य साहित्य और उसकी सहगामिनी अभिनय-कला को जन्म दिया है।

इसलिये जब हम नाटक या रूपक शब्दों के मूल पर विचार करते हैं तो हमें इस कला के उद्गम का पता भी लगा लेते हैं। नाटक शब्द नट धातु से निकला है जिसका अर्थ नाचना, नृत्य करना आदि होता है। रूपक शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें अनुकरण की भावना सन्निहित है। अतः प्राचीन काल से अभिनय में नृत्य, गायन और अनुकरण को स्थान मिलता रहा है। नाटक में यही अनुकरण तो होता है। पात्र किसी व्यक्ति या महापुरुष का रूप धारण कर वे ही कार्य या चेष्टायें करते हैं जैसे कि उस व्यक्ति ने की होंगी, जिसका

उसने रूप धारण किया है। अनुकरण के कारण ही संस्कृत में नाट्य रचनाओं के लिये रूपक शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

प्राचीन काल में आज कल के समान रंग मंच या इनकी सुविधाएँ नहीं थीं। उस समय प्रायः नट लोग बिना पर्दे की सहायता के ही सब दर्शकों के सामने ही वेश भूषा सजाते और बदलते रहते थे। अभिनय भी साधारण मंचों पर और प्रायः खुले स्थानों में ही हुआ करते थे, ये भी घण्टे दो घण्टे नहीं रात रात भर, और लोग ऊबते न थे, क्योंकि उस समय अभिनय कर्तागण अभिनय करते हुए एक स्थान से दूसरे को आया जाया करते थे। कभी कभी तो किसी गाँव में कई वर्षों तक कोई अभिनय नहीं होता था। उस काल में अभिनय के समान ही कठपुतलियों के नाच के अभिनय भी प्रचलित थे। कठपुतलियों की सहायता से ही अति प्राचीन काल से भारत में छाया चित्र दिखलाये जाते थे। सम्भवतः इन्हीं से नाट्य कला का जन्म हुआ हो और छाया चित्रों को तो सिनेमा का मूल रूप हम कह सकते हैं।

इस कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा भी पाई जाती है। कहते हैं कि एक समय कुछ लोग ब्रह्माजी के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि हे भगवन! आपने हमें जीवन के सब उपयोगी पदार्थ तो दिये हैं, पर हमें कोई चीज हमारे मनोरंजन के लिये भी दीजिये। तब ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथावस्तु और सम्वाद तथा सामवेद से गायन लेकर नाट्य शास्त्र की रचना की। इस कथा से यह पता चलता है कि ज्ञान की अन्य सामग्रियों के समान नाट्य कला का मूल भी वेदों में पाया जाता है। यदि इस कथा को छोड़ हम प्राप्य लिखित प्रमाण पर आयें तो भरत मुनि का नाट्य शास्त्र ही इस विषय का सर्व प्रथम ग्रन्थ ज्ञात होता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इस कला में भारतवर्ष ने

बहुत पहिले ही काफी उन्नति करली थी। नाट्य शास्त्रों के भेद, उपभेदों और इनमें प्रयुक्त सामग्री के वर्णनों को देखने से इस बात का पता सहज ही चल जाता है। जैसा पहिले बताया जा चुका है कि साधारण मंचों पर ही अभिनय होते थे उससे आगे बढ़ फिर यहां उच्च कोटि के रंगमंच परदे आदि बनने लगे होंगे और साथ ही अभिनय-भवन (थियेटर) भी अवश्य ही बने होंगे, क्योंकि कई नाटकों में ऐसे दृश्यों के वर्णन आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे कार्य बिना स्थाई थिएटरों के नहीं दिखाये जा सकते थे।

अभिनय कला का रंगमंच से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जैसे जैसे रंगमंच और अभिनय स्थानों की उन्नति होती जाती है, वैसे वैसे ही उच्च कोटि के अभिनय नाटकों की रचनाएँ भी होने लगती हैं। अभिनय कला की श्रीवृद्धि के लिये अभिनयकर्त्ताओं या नटों की सामाजिक स्थिति के ऊँचे उठने से भी सम्बन्ध है। जब तक समाज में अभिनयकर्त्ताओं का निम्न स्थान रहा तब तक यह कला उन्नति नहीं कर पाई, परन्तु जब इसमें उच्च घराने के व्यक्ति, राजा, धनिक आदि भी भाग लेने लगे तब इसमें अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस बात के कई उदाहरण हमारे प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। आधुनिक काल में यूरोप आदि पाश्चात्य देशों ने इस कला में खूब उन्नति की है। हिन्दी में जो इसकी उन्नति या विकास नहीं हुआ इसका एक मात्र कारण रंग मंचों का अभाव ही है।

अब हम इसपर काव्य कला एवं उसके अंगों की दृष्टि से भी विचार करें। प्राचीन शास्त्रानुसार हमारे यहां इसके दो भेद किये गये हैं। एक श्रव्य और दूसरा दृश्य। पाश्चात्य देशों में नाटकों को कोई श्रव्य सरीखी चीज नहीं मानता। वे उसे केवल दृश्य काव्य ही मानते हैं और इसी दृष्टि कोण को लेकर वे नाटकों की समालोचना किया

करते हैं। पर ऐसा प्रायः देखा गया है कि कोई कोई महाकवि या या साहित्यकार अपने क्षेत्र को छोड़कर नाट्य कला की ओर आकर्षित होता है और उसे इसका पर्याप्त ज्ञान नहीं होता तब वह दृश्य काव्य के स्थान पर काव्य नाटक लिख देता है, जिसमें अभिनय कला के स्थान पर उसकी काव्यानुभूति ही अधिक रहती है। प्रसादजी और प्रेमचन्दजी में यही हुआ है। उनकी प्रवृत्तिएँ चूंकि इस ओर नहीं थीं वे इसमें सफल नहीं हो सके प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि जो रचनाएँ साहित्यिक या अति साहित्यिक हुआ करती हैं उनमें अभिनय कला सम्बन्धी दोष पाये जाते हैं, पर जो पढ़ने से ठीक नहीं दिखाई देती उनमें खेले जाने पर इस कला के गुण प्रकट होते है। अतः अभिनय कला की सफलता के लिये शास्त्रीय नियमों के साथ साथ व्यावहारिक ज्ञान की और अनुभव की भी आवश्यकता रहती है। आगे हम इसी का विवेचन कर हिंदी नाट्य साहित्य पर विचार करेंगे।

किसी भी साहित्यिक रचना के लिये विशेष कर कथा, उपन्यास काव्य आदि में कथा वस्तु के लिये कतिपय नियम निश्चित थे। राजा, धर्मिक, ब्राह्मण, महात्मा आदि उच्च कोटि के व्यक्ति ही कथा वस्तु में ग्रहण किये जाते थे, या कोई पौराणिक, ऐतिहासिक आख्यान लेना आवश्यक समझा जाता था, परन्तु आज कल कोई ऐसा नियम नहीं है। कैसा भी कथानक कहीं से भी लिया जा सकता है, बल्कि यों कहना चाहिए कि साधारण घटनाओं, जीवन की सामान्य बातों और निम्न कोटि के चरित्र ही लिये जाते हैं। ऐसे कथानक अधिक प्रिय या ग्राह्य समझे जाते है, जिनमें साधारण या निम्न वर्ग के व्यक्तियों का उल्लेख होता है। कथा वस्तु कैसी भी और कहीं से क्यों न ली जाय उसका समुचित उपयोग या दुरुपयोग करना नाटक लेखक पर और उसके आश्रय से भावों को शारीरिक चेष्टाओं या अभिनय से दिखलाना

पात्रों या नटों पर निर्भर रहता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कथा वस्तु रोचक और जनप्रिय हो, नहीं तो वह पसंद न आयेगी और जनता ऊब जायगी, किंतु इसका आशय यह नहीं कि वह ऐसी ली जाय जो साधारण जन समूह की गिरी हुई रुचि और आकांक्षाओं को प्रकट करे। दैनिक जीवन या वर्तमान मानव जीवन के सब अंगों को ग्रहण कर स्वानुभूत सामग्री ग्रहण की जायगी तो वह अवश्य रोचक और स्थाई होगी। दूसरा तत्व प्राचीन नाट्य शास्त्रों में पात्र लिया जाता था, और आधुनिक काल में पृथक माने जाने वाले तत्व चरित्र-चित्रण और भाषा इसी में सम्मिलित समझे जाते थे। पात्रों के, सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है जो कथा वस्तु के संबन्ध में कही गई है, पर चरित्र-चित्रण आज कल एक मुख्य और प्राचीन तत्वों से भिन्न भिन्न माना जाता है, और किसी नाटक की उत्तमता या सफलता की कसौटी चरित्र-चित्रण ही समझा जाता है। पहिले चरित्र-चित्रण प्रायः विषयों और कथा वस्तु के बँध जाने से विभिन्न नाटकों में प्रायः एक सा हो जाता था, किंतु आज कल जीवन की बहुमुखी समस्याएँ ग्रहण की जाती हैं। इसलिये चरित्र-चित्रण में विभिन्नता पाई जाती है। पर यहाँ यह देखना भी आवश्यक है कि चरित्र-चित्रण में कोई दैनिक अनावश्यक प्रसंग न आ जावे, और चरित्र का विकास समरस और व्यवस्थित हो। कोई सहसा परिवर्तन चरित्र में दिखाया जावे तो वह सकारण, सुनिश्चित, यथास्थान और व्यवस्थित हो, क्योंकि यदि उसमें ये बातें न पाई जायेंगी तो वह शिथिल और अस्वाभाविक हो जायगा।

तीसरा प्रश्न हमारे सामने भाषा का है। नाटकों की भाषा सीधी और सरल हो जो, सरलता से दर्शकों के समझ में आती चली जाये, क्योंकि यदि अभिनय देखते समय प्रेक्षकगण भाषा को न समझेंगे

या समझने में समय लगावेंगे तो अभिनय द्वारा प्रदर्शित घटनाएँ उन्हें कम आकर्षक हो जायँगी और उन पर प्रभाव डालने में असमर्थ सिद्ध होंगी। अब प्रश्न पात्रों की भाषा का है। पात्रों की भाषा पात्रों की भिन्नता के कारण कुछ भिन्न होना स्वाभाविक और उचित है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में जहाँ राजा, ब्राह्मण या उच्च वर्ग के व्यक्ति सम्भाषण करते हैं वहाँ वे संस्कृत शब्दों का ही उच्चारण करते हैं पर यदि निम्नवर्गीय दास शूद्र आदि बोलते हैं तब वे अशुद्ध संस्कृत प्राकृत या देशी बोली में ही बोलते हैं। यह स्वाभाविक है और अच्छा दिखाई देता है। हिन्दी नाटकों में भी कभी कभी जब पात्रों के परिवर्तन के साथ भाषा परिवर्तन दिखाया जाता है तब भी इसी प्रकार की भाषा का उपयोग करना उचित प्रतीत होता है। कहीं कहीं इसीलिये पूर्वी या घरेलू या ग्राम्य मुहावरों, शब्दों और वाक्यों का हितकर प्रयोग पाया जाता है। हिन्दी में एक बात यह विचारणीय है कि यदि मुस्लिम पात्र या आधुनिक ढंग के अंग्रेजी पात्र बातचीत करें तब भाषा का स्वरूप क्या हो? प्रेमचन्द आदि लेखकों ने जहाँ मुस्लिम पात्रों की उद्भावना की है वहाँ उन्होंने पात्रों की भाषा उर्दू या कठिन उर्दू रखी है। इसी प्रकार कई लेखकों ने अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी पात्रों से अंग्रेजी के वाक्य के वाक्य सम्भाषण में रख दिये हैं पर हमारी समझ से यह उचित नहीं। लेखक का दृष्टिकोण यही होना चाहिये कि वह हिन्दी नाटक केवल हिन्दी जानने वाले दर्शकों के लिये लिख रहा है। अन्य जातिएँ या भाषा भाषी पात्रों का यदि उपयोग करना पड़े तो उनकी ऐसी ही भाषा ग्रहण करना चाहिये जो उनके कहने के ढंग को प्रकट कर सके। किन्तु वह हिन्दी से भिन्न न हो। मुस्लिम पात्रों की भाषा सरल हिन्दी ही होना चाहिये।

भाषा का दुरूह होना भी अभिनय योग्य नाटकों के लिये अनुचित

है। इससे नाट्यकार के भावों को समझने में कठिनता पड़ती है। प्रसाद की भाषा की जहाँ यह विशेषता है कि वह हमको हमारे अतीत के उन गौरवमय युगों में ले जाती है, जहाँ भारत राष्ट्र उन्नत, सभ्य और अधिकारों का भोक्ता तथा अपने भाग्य का निर्माता स्वयं था। परन्तु प्रसाद ने जानबूझकर अपनी भाषा में अपनी काव्य प्रकृति और संस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग कर अपने नाटकों को एक सीमा तक अभिनय के अयोग्य और साधारण पाठकों के लिये भारवाही बना दिया है।

इन तत्वों के अतिरिक्त नाटक रचना में देश काल और शैली का देखना भी आवश्यक है। नाटकीय कथा वस्तु जिस काल की ली जावे उसीके अनुरूप भाषा, भाव-प्रकटीकरण, चाल ढाल और वेश-भूषा होना चाहिये। जिस देश या प्रान्त का पात्र हो उसके अनुरूप ही उसकी भी भाषा और वेश-भूषा हो।

शैली लेखक की अपनी निजी विशेषता की परिचायिका है। इसी में उसका निजत्व, कला या व्यक्तित्व समाया रहता है। पर इसके निश्चित करने के लिये कोई बन्धन नहीं रखे जा सकते। रुचि के अनुकूल लेखक शब्द, मुहावरे, कहने और बोलने के ढंग रखते हैं। इसमें उनकी रुचि ही प्रधान रहती है और रहना चाहिये।

अब इस कला और रंगमंच की सुविधाओं के लिये हमें कुछ अन्य आवश्यक बातों पर विचार करना चाहिये। नाटकों में कोई कोई लेखक स्वगत कथनों को स्थान देते हैं। पर पात्र स्टेज पर इस तरह से और जोर से बोले या मन में बोले कि दर्शक तो सब सुनलें पर पास वाला व्यक्ति न सुने यह अस्वाभाविक है। प्राचीन नाटकों में अंकान्तर विष्कम्भक, प्रवेशक आदि रखकर यथासम्भव स्वगत कथनों को बचाया जाता था। आधुनिक अंग्रेजी नाटकों में किसी विश्वासपात्र पात्र को

सृष्टि कर और उसमें सब बातें कहकर इन्हें बचाया जाता है। स्वाभाविकता की दृष्टि से इनका न होना ही उचित है। प्राचीनकाल से नाटकों में कविता या गीतों का प्रयोग होता आ रहा है। पर चाहे जहाँ कविताओं का प्रयोग और शैरों में बातचीत करना अस्वाभाविक है। यदि कोई नाट्यकार इन्हें रखना ही चाहे तो उसे इन्हें यथास्थान रखना चाहिये, जैसे राज सभा नृत्यादिक के समय पारसी कम्पनियों या उर्दू के नाटकों की भाँति कविता में बातचीत करवाना उचित नहीं। अंग्रेजी में या अंग्रेजी ढंग पर लिखे हुए हिंदी नाटकों में अब गीतों का प्रयोग नहीं होता। पर हिंदी के नाटक लेखक अभी गीतों के उपयोग के मोह को पूरी तरह नहीं छोड़ पाये है। हमारी दृष्टि से गीतों का प्रयोग यथास्थान अनुचित नहीं। अंग्रेजी थियेटरों में भी नाट्य वस्तु से पृथक इनका प्रयोग किया ही जाता है।

प्राचीन नाटकों में मनोरंजन या हास्य विनोद के लिये कथा वस्तु के साथ विदूषक की सृष्टि की जाती थी, जो राजा का सखा, सहायक और सम्मति दाता हुआ करता था। वही कभी कभी प्रसंगों पर मनोरंजन या विनोद करता था। कुछ दिनों तक नाटकों में कथा वस्तु के साथ एक उपकथानक के रूप में भी हास्य की योजना होती रही पर अब इसका प्रयोग कथावस्तु का अंग मान कर किया जाना ही उचित समझा जाता है।

दो शब्द दृश्यों के सम्बन्ध में भी। प्राचीन काल में वध, बेहोशी युद्ध आदि के दृश्य दिखाया जाना वर्जित था, पर आज कल स्टेज पर दिखाने जा सकने योग्य सब ही दृश्य दिखाये जा सकते हैं, किसी प्रकार का बन्धन नहीं, किंतु उनमें अस्वाभाविकता नहीं होना चाहिये। अंत में यह भी कहना आवश्यक है कि अभिनय कला की उन्नति रंगमंचों पर ही निर्भर रहा करती है और जब तक रंगमंच या अभि-

नाट्य शालाएँ स्थापित नहीं होती तथा अभिनय कर्ताओं का समादर नहीं होता तब तक इस कला की उन्नति के कोई चिन्ह नहीं दिखाई दे सकते । सिनेमाओं के कारण, इस कला में जहाँ बाधाएँ आई हैं वहाँ नाट्य कृतियों की रचना में सहायता भी प्राप्त हुई है, क्योंकि ये दोनों कलाओं के तत्वों में दो भगनियों सदृश साम्य है ।

दीपावली

दिवाली, दीपावली अथवा दीपकावलि का अपभ्रंश रूप समझ पड़ता है। जिस प्रकार ब्राह्मणों का रक्षा बन्धन, क्षत्रियों का विजया दशमी एवं शूद्रों का त्यौहार होली है उसी प्रकार वैश्यों का मुख्य त्यौहार यही है। वर्णों के क्रमानुसार यह विजय दशमी के उपरांत कार्तिक बदी अमावस्या को मनाया जाता है। यद्यपि यह उक्त अमावस्या को मनाया जाता है तथापि इसका आरम्भ तेरस या अन्य नाम धन तेरस (त्रयोदशी) से मनाना उपयुक्त होगा। और यों तो लोग कई दिनों से इस उत्सव की तैयारी के आह्वान में निमग्न हो जाते हैं। इसकी समाप्ति भी कार्तिक सुदी द्वितीया को मानना चाहिये। प्रसंग वश यह भी ध्यान रखना अनुचित न होगा कि अन्य उत्सवों की भाँति यह भी सब वर्णों के मनुष्यों द्वारा मनाया जाता है। वैश्य तो सब प्रकार के इसे मानते हैं। यहाँ तक कि मुसलमान भाई भी इस उत्सव में अपना हाथ बँटा, लक्ष्मी देवी की प्रार्थना कर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। भला ऐसी देवी के पाने की कौन अभिलाषा न करेगा। जिसके लिये संसार के अनेकों मनुष्य प्राणप्रण से चेष्टा करते हैं और जिसकी उपासना में अपना संपूर्ण जीवन लगा देते हैं। यहाँ यह भी ज्ञात कर लेना अप्रासंगिक न होगा कि उत्सव प्रत्येक जाति उच्चातिउच्च से लेकर नीचातिनीच मनुष्य भक्षक जातियों तक में मनाये जाते हैं।

अमावस्या को प्रातः काल या त्रयोदशी से छोटे बड़े धनी निर्धनी सब भाँति भाँति के सुस्वादु पदार्थ बनाते हैं। तत्पश्चात् संध्या को

श्री महालक्ष्मी की लक्ष्मी प्राप्ति के हेतु पूजन करते हैं। पूजन में पकवान तथा फलादि होना नितांत आवश्यक है। रोशनी तेरस से ही आरम्भ हो जाती है, किन्तु उसके यौवन तरंग की छटा तो अमावस्या की अंधेरी रात्रि में ही देखने योग्य होती है। इसके मनाने की विधि तो कोई विचित्र नहीं वरन् वर्णन अवश्य ही अवर्णनीय है। यह उत्सव विशेषतः वैश्यों द्वारा मनाया जाता है। ये वर्षाऋतु में अपना हिसाब किताब ठीक कर लेते हैं और दीपावलि पर नये उत्साह से नये वर्ष के लिये 'Look before you leap' की उक्ति के अनुसार इस वर्ष कितना लाभ अथवा हानि हुई का विचार कर आगामी वर्ष के बारे में सोचते हैं। ये रोशनी की तुलना प्रायः व्यापार के साथ किया करते हैं। उनके विचार हैं कि जितनी अधिक रोशनी और धूमधाम होगी व्यापार भी उतना ही अधिक चटकेगा। इसी कारण वे यथाशक्ति रोशनी करते, बाजे बजवाते एवं गायन करवाते हैं। अपने भवन, प्रकाश से प्रकाशित करते तथा दीपावलि से दर्शकगणों की मनावृत्ति अपने विशाल भवनों एवं अपने आगारों के चहुँ ओर आलोकित ज्योति की ओर बरजोरी खींच लेते हैं। वर्षा से बिगड़े हुए घरों का सुधार भाजों से इसीलिये करते हैं कि शरद-शांति रूपी महालक्ष्मी को अपने सुगृह में यही सुअवसर जान आह्वान करते हैं तथा स्वच्छता महारानी की पूजा प्रतिष्ठा भी इसी दृष्टि से की जाती है, और उसकी प्रसन्नता में मानों वे धानी और पेड़े आदि माधुरी का प्रसाद बाँटते हैं।

धनी मानी लोग सविनय गृह गृह, दुकान दुकान जा विनिमय नियम पालन करते हैं। आपस में रुपया जमा करते तथा करवाते हैं सो ऐसे जान पड़ते हैं कि अपनी उदारता दिखाने का बहुमूल्य अवसर इन्हें आज प्राप्त हुआ है। इसलिये साल भर की कसर आज ही निकाल डालें। रुपयों को भी लक्ष्मी का प्रधान कर्मचारी समझ पूजते

हैं कि वे साल भर की कंजूसी की पोल न खोल दें, किन्तु लक्ष्मीजी से प्रार्थना कर मीठी मीठी बातें करते हैं ताकि वह उनको अपनी प्रसन्नता हृदय में स्थान दे देवे। वास्तव में यही समय 'बनियों' की बुद्धि विशालता का विषय ज्ञातव्य करने का बड़ा ही अच्छा मौका है। वैश्यों को कई विज्ञ पुरुष बिलकुल साधारण समझते हैं, पर, यदि वे इस समय इनकी विस्तृत पटुता का अनुमान करें तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि अपने अपने कार्य में सभी पटु एवं कुशल होते हैं। यही समय विशेषकर उनके परिचय प्राप्त करने के उपयुक्त है।

इस छोटे से त्यौहार में कितना महत्व, कितना गौरव, कितनी उत्साह तरंगें भरी हैं एवं यहाँ 'छोटा' कितना आशामृत से परिप्लावित है। इसी 'छोटे' की सामर्थ्य का असमर्थ लेखनी क्या लिखने का सामर्थ्य प्रदर्शित कर सकती है? इसका अनुभव तो वही हृदय कर सकता है जो इसकी लहर-हिलोरों से हिलोरित हुआ हो। क्या धनी, क्या निर्धनी, क्या व्यवसायी, क्या अव्यवसायी, क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र, सम्पूर्ण आबाल वृद्ध जनता इस स्वाति नक्षत्र-सीकर की प्रतीक्षा पपीहा सम करते अथवा इसके आशा चन्द्र को चकोर वत् एकटक निहारते रहते हैं। बच्चे सोचते हैं, 'अब दीवाली आई', 'हमें पटाखे छोड़ने को मिलेंगे', हमें रोशनी और तमाशा देखने को मिलेगा। हमें नये नये कपड़े तथा नवीन नवीन अनेक प्रकार की वस्तुएं मिलेंगी। विद्यार्थियों के मनों में अर्द्ध वार्षिक परीक्षा समाप्त कर घर जाने की या अपने घरों को सुधारने व सँवारने की, उमंगों की लहरें लहराने लगती हैं। युवकों को कार्य क्षेत्र में कूदने की, व्यवसायियों को व्यापार में बाजी ले जाने की, शूद्रों को कार्यसेवा दिखाने की और वृद्धों को अपने पुत्र पौत्रादिकों को प्रसन्नचित्त देखकर—प्रायः सभी को किसी न किसी प्रकार का उत्साह तथा स्फूर्ति किसी न किस

वर्षा राक्षसिनी से जितना कार्य बन्द रहता है शरद देवी के आगमन से वह खुल जाता है। वर्षा जितना बिगाड़ करती है शरद देव्यागमन उसके सुधारों की सूचना दे देती है सब लोग अपने अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। 'दीपावली आई' का ध्यान आते ही स्त्री-पुरुष घरों की सफाई में लगजाते हैं, मानों अपने घर का मूलक निकाल रहे हों। जब पूर्ण रूपसे घर के कोने कोने का कूड़ा करकट निकाल लेते हैं तभी दम लेते हैं सो ऐसे जान पड़ते हैं कि बेचारे कूड़े कचरे से जन्म जन्म की शत्रुता निकाल रहे हों, अथवा उससे किसी प्रकार का झगड़ा होने से उस पर रुष्ट हो अपने घर से भाड़े वाले की नाईं निकाल रहे हों। जब उसे निकाल, लीपा पोती से निवृत्त हो जाते हैं सो ऐसे समझ पड़ते हैं कि उन्होंने अनुनय विनय कर स्वच्छता देवी ही को अपने घर में बुलवाकर रखली है या वही स्वयं इनकी अर्चना से आनन्दित हो इनके आगार को आलोकित कर रही हो। अस्तु।

धन तेरस से अमावस्या तक बड़ी स्फूर्ति और बाजार में खूब धूमधाम और चहल पहल दिखती है, ऐसा जी चाहता है कि यहीं भ्रमण करते रहें, घर न जावें। कहीं पर कोई महालक्ष्मी, शिवाजी, राणा प्रतापसिंह प्रभृति पुरुषों के चित्र देख रहे हैं और जिन्हें कोई कोई बड़े ही चाव से मोल ले रहे हैं। कहीं ग्वालिन, शेरादि के खिलौनेवाला छोटे-छोटे बच्चों से क्रय-विक्रय का सम्भाषण करता दृष्टिगोचर होता है। कहीं पोंगी वाला जुलाहा पोंगी लिए हुए दीखता है। चाँवल की धानी की राशि लगी हुई दिखती है सो ऐसी प्रतीत होती है मानो ऐरावत हाथी खड़ा हो अथवा कोई किसी स्तूप को यहाँ पर उठा लाया हो। कहीं पर कोई पुस्तक विक्रेता अपनी धुन में निमग्न दीख पड़ता है। कहीं कहीं जादूगर जादू का कौतुक करते

नजर आते हैं। कहीं कहीं पर पटाखे तथा फुलजड़ी वाले बड़े ही हाव-भाव से अपने ग्राहकों को पटाखे बेंचते और छोड़कर परीक्षा करने को कहते हैं। इसी हेतु कभी कभी बड़े पटाखों का तोप सदृश शब्द वातावरण में विलीन होता है। मानो कहीं की चमू चढ़ आई हो। कोई पूजन के लिये धन-फल की आशा से फल फूल आदि पूजन सामग्री खरीद रहे हैं। इस प्रकार नाटक के दृश्यों की भाँति यह बाजार भी अपना मन-मोहक दृश्य दिखलाता है, मानों उसने वेश्या वृत्ति ही धारण करली हो। कहीं कहीं जो घर ठीक तक लीपे पोते नहीं गये हैं अब स्वच्छ किये जा रहे हैं, और किसी धनिक का कोई कार्य रह गया है वह भी आज ही समाप्त हो रहा है।

सूर्य-प्रकाश में तो ये नाटक दृश्य होते हैं अब उसके पश्चात् का भी कुछ दृश्यावलोकन कीजिये। घोर अंधकार का साम्राज्य विस्तृत है। कई दुकानों में गैस और विद्युत-दीप जल रहे हैं और द्वारों पर दीपकावलि जल रही है, सो मानो इसने यह प्रण कर लिया है कि हम लोग चन्द्र और तारागणों के अभाव की पूर्ति कर देंगे। और दिये तो उडुगणों से होड़ सी लगा रहे हैं। नन्हें नन्हें दीपक घर और प्रासादों के द्वारों पर ऐसे प्रतीत होते हैं कि ये नगर निवासियों में अपनी प्रसन्नता समझ उनको सहयोग देने के लिये खिलखिला कर हँस रहे हों। कहीं बिजली के तार, लाल हरी फुलजड़ियें और आगकाड़ियें छूट रही हैं तथा समाप्त हो बुझ जाती हैं, जैसे किसीका जीवन दीपक बुझ जाता है, एवं पुनः प्रज्वलित हो जाती हैं सो ज्ञात होती हैं कि बिजली सदृश लक्ष्मी की चंचलता का परिचय दे रही हों या बिजली ही रंग बिरंगी होकर चमक रही हो। स्थान स्थान पर नृत्य, गायन तथा वादन हो रहे हैं सो ऐसे जान पड़ते हैं कि सब लोगों ने मिलकर आज ही सैकड़ों विवाह करने की ठानली हो।

जो लाभ हमें किन्हीं दूसरे कारणों से उपलब्ध होते हैं वे इस उत्सव से भी हमें प्राप्त हो सकते हैं। इससे सर्व प्रथम जो लाभ होता है वह है स्वास्थ्य का, स्वच्छता द्वारा। वर्षाऋतु में पानी गिरने के कारण बहुतसी खराबियाँ हो जाती हैं। किसी का छप्पर बिगड़ जाता है। किसी के घर की दीवाल गिर जाती है, घर मैले हो जाते हैं। सड़कों में भरपूर कीचड़ हो जाता है और वे पूर्ण धूसरित दशा में हो जाती हैं इत्यादि अनेक प्रकार के बिगाड़ होते हैं; दूसरे, वर्षा में उचित प्रकाश न मिलने से और तरलाई होने से कई प्रकार के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, जो नाना भांति के रोग पैदा कर देते हैं। इसके लिये आवश्यक है कि स्वच्छता रखी जाय और वह हो जाती है दीपावली के रूपमें। द्वितीय लाभ जो इसके द्वारा होता है वह है कि 'आगे बढ़ने के पहले ठहरने और विचार कर लेने की उक्ति का चरितार्थ होना। किसी भी मनुष्य के लिये यह अनिवार्य है कि यदि वह आगे जाता हो तो थोड़ा पीछे की ओर मुड़ कर देखले; यह मनुष्य के प्रधान उद्देशों में से एक है। यह आशा और उत्साह का पाठ पढ़ाता है। बिना आशोत्साह के मनुष्य मृतवत् है। इसके बिना इसका जीवन अनुपयोगी सिद्ध होता है। इससे ही वैश्यों का का नया वर्ष प्रारम्भ होता है जिससे वे लोग बारह महिनों का बचा बचाया कार्य समाप्त कर नये वर्षारम्भ के लिये सब साज सजा लेते हैं, और फिर से वे सब बातें नूतन हो जाती हैं। नूतन बहीखाता, नूतन लेन देन, नूतन वर्ष, नूतन उत्साह, नूतन जीवन इत्यादि, ये सब ऐसे भासित होते हैं मानो स्वयं नूतन ही रूप धर कर प्रतिवर्ष आ उपस्थित होता है।

हानि तो इस उत्सव से जुए के कारण होती है जो वह लोगों के अंधविश्वास का ही कारण है। वास्तव में यह एक बड़ा भारी कलंक

है जो इस उत्सव में पाया जाता है। लोगों को इसके सुधार का उपाय करना चाहिये। दूसरी हानि जो होती है वह पटाखे आदि चलाकर व्यर्थ व्यय की है। भारतवर्ष निर्धन देश है, उसे मितव्ययी होना चाहिये। इस प्रकार प्रतिवर्ष लाखों रुपयों की बारूद फूँक कर हम-आप निर्धन हो विदेशियों को सधन बनाते हैं। इन कुरीतियों को मिटाने के लिये हमें प्रयत्न कर सुधार रूपी पानी से दीपावली का कलंक धो देना चाहिये।

उपसंहार में मुझे केवल इतना ही कहना है कि उत्सव ही एक ऐसी वस्तु है जो किसी देश या राष्ट्र को जीवितावस्था में रखती है और वहाँ के पुरुषों का मनोरंजन कर उनकी अधिकाधिक सभ्यता की सूचना देती है। अतः इसके महत्व को हृदयंगम कर उसे उचित रूपसे मनाना और देश को हमें धनधान्य से पूर्ण करना चाहिए।

गुप्तजी की 'यशोधरा'

नारी विश्व का सबसे महत्वपूर्ण तथा उपेक्षित अङ्ग है। नारी में मानव-कल्याण, सहानुभूति, भावोद्भाविनी शक्ति तथा मानवीय शक्तियों के विकास का उद्गम् एवं प्रश्रय-स्थान व्यापक रूप से सन्निहित रहता है। नारी में उमा, रमा और सरस्वती निवास करती हैं। नारी विश्वात्मा की मधुर एवं कोमल कल्पना है, उसका मस्तिष्क है। वह तन्तु-जाल केन्द्र है जो मानव-शरीर पर केन्द्रित शासन के समान अधिकार किये हुए है। इसीलिए तो वह विश्व का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग है। मानव मस्तिष्क है। मानव मस्तिष्क है, हृदय नहीं।

उसका हृदय, उसका मर्मस्थल, तो वहीं व्याप्त है जहाँ वह पतिता है; अबला है; पर-मुखापेक्षी है। जहाँ वह विश्व के लिए मानव के लिये—उसकी विडम्बना और अहंकार के लिये तिल-तिल कर गलती है। और उसकी महत्ता और सत्ता भी तो गलने में ही है। नारी, फिर चाहे भारत की हो, यूरोप की हो अथवा किसी असभ्य देश की हो, नारी ही है। मातृत्व ही उसका शृङ्गार है। वेदना—मधुर अलक्षित, अस्पष्ट, रोम रोम में व्याप्त वेदना—ही तो उसका गौरव है। उसके जीवन में सतत प्रवाहित होने वाले दो तार भी तो यही हैं—मातृत्व की भावना और वेदना। उसका जीवन क्रम भी इन्हीं दो तारों पर—प्रवाह-धाराओं पर—अवलम्बित रहता है। वह क्षत्राणी हो सकती है, वह कैकेयी हो सकती है, वह विन्दुमती हो सकती है, वह सावित्री हो सकती है। पर माता यशोदा, माता कौशल्या भी तो वही है।

नारी के बिना पुरुष अपूर्ण है, एकाकी है। नारी पुरुष की पूर्ति है।

नारी के बिना मानव जीवन-नौका को खेने में असमर्थ है। सनारी वह विश्व पर विजय प्राप्त करता है। नारी रहित मानव जल रहित प्रवाह है, रस रहित मधुरता है। नारी मानव के लिए इस अथाह असीमित भवाम्बुधि में, जहाँ उसे पल-पल कठोरता, अन्याय, पराजय, हीनता, कुप्रवृत्ति, कटुता, विरसता तथा उदासीनता से सामना करना पड़ता है, प्रकाशस्तम्भ का स्थान ग्रहण करती है। भ्रम, अंधकार, विदिशा से उसकी रक्षा कर उसकी साधनाओं के लक्ष्य की ओर उसके ध्यान को केन्द्रित कर उसका पथ-प्रदर्शन करती है। 'मातृ जाति' को 'मनसे' 'शरीर से' 'भूत-दया-मूर्ति' मानना, 'हीन' समझना श्रेयस्कर है, नारी जाति का अपमान करना है। 'यशोधरा' में नारी जाति की इसी महानता को स्वयं भगवान बुद्ध स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। नारी जाति को व्यापक रूप से आधार मानते हैं। वे कहते हैं—

"दीन न हो गोपे सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृ-जाति ने ही खीर से॥
आया जब मार मुझे मारने को बार-बार,
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से।
तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा, मुझे पीछे कर, पञ्चशर वीर से॥"

पर उस महान नारी का गौरव किस बात में है? उसकी महानता कहाँ है? ये प्रश्न हमारे समक्ष सहसा गम्भीर हो उठते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर हमें 'यशोधरा' की यशोधरा में मिलते हैं। यशोधरा नारी-जाति की दो महान्, सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियों का, हृदय-स्थित दो अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु अमर्त्य-अनाशमान-तारों का, सतत बहने वाले

रस-स्रोतों का प्रतिबिम्बित करती हुई दिखाई देती है [illegible] 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी'; अर्थात् मातृत्व की भावना और वेदना। इन्हीं दो सूत्रों के ऊपर यशोधरा का जीवन प्रवाहित होता रहता है। यशोधरा का ही क्या, नारी का जीवन ही इन्हीं दो तारों में गतिमान है। इन्हीं दो महान् भावनाओं के कारण नारी नारी है, महान् है। गुप्तजी इस तथ्य को भली भाँति जानते हैं इसीलिए 'यशोधरा' काव्य का आधार, उसके प्राण, उसका आदर्श-वाक्य (Motto) उसका Central Idea या Moral इन्हीं दो पंक्तियों के दायरे में उन्होंने बन्द किया है।

वे बहु-विश्रुत पंक्तियाँ हैं—

"अबला-जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी!"

सम्पूर्ण काव्य इसी का विकास, विस्तरण एवं आंशिक है। किन्तु इसमें मातृत्व की भावना स्पष्टता अथवा प्रधानता के साथ जहाँ चलती है वहाँ वेदना अस्पष्ट तथा गौण होकर। इसमें सन्देह नहीं नवयुवती नूतन आकांक्षाओं से समन्वित [illegible] की कल्पना करने वाली, राज-सुख भोगी यशोधरा के लिए इस वय में, जिसमें जीवन का सार, वासनाएँ एवं विभिन्न रङ्गरेलियाँ होती हैं, इससे अधिक और दुःख क्या हो सकता है कि उसका जीवन-सर्वस्व, प्राणधन, शान्ति मुक्ति की खोज में राज-पाट, गृह-द्वार ही नहीं उस [illegible] रत्न को भी छोड़ गया है। उसे आशा तो यह थी कि वह अपने यौवन की उत्ताल तरङ्गों के मध्य, अपने प्रेम की उज्ज्वलता और मधुरता के आधार पर, अपने प्रियतम को माया के बन्धनों में बांध सकेगी, पर परिणाम तो इससे उल्टा निकला। किन्तु ऐसा ज्ञात होता है वह कि इसे जानती भी थी और इसीलिए मुक्ति-पथ-गामी पति के गृह-त्याग पर उसने

कहा था—

"आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,
मानती हूँ उनको गहन-वन-गामी मैं।"

किन्तु वह तो स्त्री थी; राजकन्या और क्षत्राणी थी। वह तो पृथ्वी-सुता की सजातीया थी। वह तो बिन्दुमति की भगिनी थी। वह तो मधुर वेदना का धीरे-धीरे सुखानुभव करना जानती थी। वह जानती थी कि वेदना को किस प्रकार दबा कर हँसा जा सकता है। वह जानती थी विरहाग्नि को किस प्रकार पतिहित कामना शान्त कर सकती है। फिर उसे दुःख या अफ़सोस किस बात का था? उसके दुःख का कारण यह नहीं था कि उसका सुहाग का रक्षक उसे त्याग कर चला गया है। उसके स्त्री हृदय में तो टीस इस बात से उठती थी कि वे उससे कह कर क्यों न गये? चोरी-चोरी क्यों चले गये? यदि वे कह कर जाते तो क्या वह बाधा बन कर उनके सामने खड़ी होती अथवा उन्हें जाने से रोकती? क्या हँसते-हँसते वीर स्त्रियों ने अपने जीवन-धनों को रणाङ्गनों में नहीं भेजा है? क्या वह क्षत्रिय कुमारी नहीं थी? क्या वह वह क्षत्रिय कुमारी नहीं थी, जिसके लिये गौतम को कठिन परीक्षा देनी पड़ी थी? पर उसका हृदय तो केवल इसी बात से काँपता था कि वह उससे कहकर क्यों न गये? चोरी-चोरी क्यों गये? वे तो सिद्धि-हेतु गये। यह तो गौरव की बात थी। क्या वह अर्द्धाङ्गिनी होकर उनके जीवन के महान् यज्ञ में विघ्न डालती? इसी-लिये तो वह विरहाग्नि को उसी टीस से दबाये कहती है—

'सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याघात॥
सखि वे मुझसे कह कर जाते,
कह तो, क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?'

इससे भी अधिक दुख उसे इस बात का है कि वह इतने समय तक उनकी सहचरी रही। उनके निकट रही। उनकी एकमात्र, अनन्य प्रेम-प्रतिमा रही। वे उसे मानते भी खूब रहे। उन्होंने प्रेम-दान देने में कभी कंजूसी भी न की, पर उसे पहिचान क्यों न पाये? उसे भीरु क्यों समझा? नारी-हृदय के समझने में उसके विचारक स्वामी ने धोखा क्यों खाया? इसीलिए तो वह आज भी गुनगुनाती है—

'मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहिचाना?
आज अधिक वह भाते।
सखि वे मुझसे कह कर जाते॥'

इसी समय उसके नारी-हृदय में पति के प्रति सौ-उचित गौरव की एक रेखा खिंच जाती है और वह कहती है, 'जायें, सिद्धि पावें वे सुख से, किन्तु नारी यशोधरा अपनी अंतर्वेदना को छिपाने में अपनी असमर्थता प्रकट कर ही देती है—

'किस पर विफल गर्व अब जागा,
जिसने अपनाया था त्यागा;
रहें स्मरण ही आते।
सखि वे मुझसे कह कर जाते।'

इस उक्ति में नारी की कितनी असमर्थता, अवशता, कितनी गम्भीर, कितनी मार्मिक व्यथा छिपी है इसे तो नारी-हृदय ही समझने में समर्थ है।

यशोधरा इतनी पीड़ा का भार अपने हृदय पर लादे हुए है, पर जब गौतम-पिता उससे गौतम के खोजने के सम्बन्ध में कहते हैं तब वह उन्हें यही उत्तर देती है—

"किंतु खोज करना उन्हीं के प्रतिकूल है।"
"खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं?"

ये पंक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि नारी पुरुष-हृदय-तल तक कितना गहरा पैठ सकती है। वह उसके मनोभावों, क्रिया-कलापों से गृह की नन्हीं दीवारों में रहकर भी पूर्णतया परिचित रहती है, जहाँ मनुष्य केवल स्त्री-हृदय की सतह का ही दर्शन कर वापिस लौट आता है।

यह तो वेदना का प्रारंभ और विकास की एक रेखा थी। 'यशोधरा' में उसकी चरमाभिव्यक्ति भी प्रचुरता से प्राप्त होती है।

छन्दक उस महान् आत्मा को राज्य-सीमा पर छोड़ कर चला आया है और सूचना देता है कि उन्होंने रज रमा ली है। "अस्त्र, वस्त्र, भूषण" की तो बात ही क्या है वे अपनी शिखा को 'कर्त्तरी' के घाट उतार चुके हैं। 'चिकने चुपड़े कोमल कच्चे, सच्चे-सुरभि-निवेश' केशों को भी काट चुके हैं।

यशोधरा ने यह सुना और दीर्घ काल से पाले हुए काले व्यालों को उसने भी अपने मस्तक से हटा दिया और इसी वेदना संयुक्त हृदय से वह सोचने लगी—

"चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहें चिरकाल।
बस, सिन्दूर-बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल॥"

कोई भी सुहागिन नारी इससे भिन्न क्या सोचती है? वेदना को दबानेवाली एवं मातृत्व को सार्थक करने वाली यदि 'सुख सुहाग की लाली' किसी नारी के सौभाग्य से उसके पास हो तो फिर उसके छिन्न-विच्छिन्न हृदय को सांत्वना देने के लिए और किस वस्तु की आवश्यकता होगी? गौतम, गौतम को अवश्य ले गये थे, किन्तु यशोधरा को उसके 'सुख सुहाग की लाली' भी सौंप गये थे और इसी के

आधार पर नारी यशोधरा, माता यशोधरा बन कर जीवन-यापन कर सकी। वेदना को दबा कर मातृत्व को अपना सकी। दुःख में सुख की घूँट पीकर अपने सम्मान की रक्षा कर सकी। राहुल को सौंप कर नारी-हृदय की महान् उदारता तथा त्याग का परिचय दे सकी। भावी जीवन की सांत्वना यही थी—

'मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल सा लाल।'

यशोधरा को सांत्वना तो मिली, पर वह अपना दुःख न भुला सकी। उस दुःख में वही टीस उसके कोमल हृदय को बार बार कचोटती है कि उन्होंने उसकी जागृत अवस्था में ही उसे त्यागा होता। उस समय वह उन्हें इस महायोग के साधन के लिए हँस कर बिदा देती। उन्हें वह स्वयं सजाती उनकी पूजा करती, उनकी आरती उतारती और इस प्रकार वह यह प्रदर्शित कर सकती कि नारी किस प्रकार सारी वेदनाओं को हँस-हँस कर सह सकती है। वियोग यदि उस समय उसके पास आता तो उसे भी मुँह की खानी पड़ती। इसलिए तो वह कहती है—

"मिला न हा! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग!"

किन्तु यह विचार उसके हृदय में क्षण भर भी न रह पाया। उसने सोचा, नाथ यदि चाहते तब ही ऐसा होना सम्भव था और इसी समय नारी-हृदय की कोमलतम भावना जाग उठती है। कष्टों और वेदनाओं की तो वह पुतली है ही। दुःखों से वह कब घबड़ाती है। प्रतिदिन क्षण-क्षण गलना तो उसके स्वभाव का ही एक अङ्ग है, उसकी दैनिक परिचर्या है। इसी गम्भीरतम वेदना के आवरण में मानो वह उसे चुनौती देती है कि हे मेरी सहचरी! हे मेरे भव ही

की ओर । तू अपने अस्त्र-शस्त्र सहित मैदान में उतर आ। मैं भी प्रतिज्ञा करती हूँ । स्वामी ने—

"बिदा न लेकर स्वागत से भी वञ्चित यहाँ किया है,

हन्त ! अन्त में यह अविनय भी तुमने मुझे दिया है ।

❀ ❀ ❀ ❀

"ले न सकेगी तुम्हें वही वह तुम सब कुछ हो जिसके

यह लज्जा यह क्षोभ भाग्य में लिखा गया कब किसके ?

मैं अधीन मुझको सब सहना ! नाथ मुझे इतना ही कहना ।"

यह नारी हृदय की वेदना की चरम सीमा है । मानिनी नारी का शृंगार है । पति-गर्विता यशोधरा अपने इसी अभिमान पर अटल रही और उस नारी को गर्वोक्ति को सिद्ध कर सकी । जब राजकुमार गौतम, बुद्ध होकर आये तब भी संसार-गौरवशाली पति का सास और श्वसुर के आग्रह करने पर भी, स्वागत करने नहीं गई । पराधीन तुच्छ और हेय समझी जाने वाली नारी के—यशोधरा के—कक्ष में ही महान् आत्मा को जाना पड़ा । नारी-विजय का इससे बढ़कर उदाहरण और कहाँ मिल सकता है ? क्या कोई सोच सकता है कि अपने इस आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए उसे कम मूल्य चुकाना पड़ा ? उसकी इस सिद्धि के लिए महात्मा बुद्ध सदृश उसे भी वर्षों तक तपस्या करनी पड़ी थी । शरीर क्षीण करना पड़ा । तिल-तिल कर गलना पड़ा । तब ही वह उस महात्मा को आकर्षित कर सकी । विलासी नारी होकर विलासी नर को । तपस्विनी नारी होकर तपस्वी नर को । बुद्ध ने यदि विश्व को छोड़ा तो यशोधरा ने विश्व-सर्वस्व राहुल को त्याग दिया । दोनों प्रकार से विजय नारी की हुई । विश्वपोषाल किसको कठोर नहीं बना देता ? उस प्रतीक्षा के आन्तरिक उल्लास में यशोधरा

को भी कठोर, कर्तव्य परायण और परीक्षा सहने योग्य बना दिया। उसकी आकांक्षा इस समय यही हुई—

'अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य-पुत्र दे चुके परीक्षा अब है तेरी बारी॥"

'कुसुमादपि सुकुमारी' यशोधरा के अब 'वज्रादपि कठोर बन कर' परीक्षा देने तथा कर्तव्य पालन का समय आया। किंतु इसके पहले उसे यह भी तो विचार लेना चाहिए कि वह उसके योग्य है अथवा नहीं।

उसके पिता ने भी तो राजकुमार गौतम की परीक्षा ली थी और अपनी कन्या के अनुरूप 'धीर वीर' वर चुना था। उस समय 'कुसुमादपि सुकुमारी' की परीक्षा न हो सकी थी। उसका समय तो अब है। किंतु राजकुमार गौतम के अतिरिक्त और कौन इतना विशेष प्रतिभा सम्पन्न हो सकता है जो बिना परीक्षा लिये ही अपना उपयुक्त पात्र चुन लेता? राजकुमार की हर प्रकार से कठोर से कठोर परीक्षा ली गई थी, तब कहीं उन्हें यशोधरा-रत्न की प्राप्ति हुई थी और इसीलिए वे भी अपनी सहचरी मानो ऐसी राजकुमारी को बनाना चाहते थे, जो समय पड़ने पर 'वज्रादपि' कठोर हो सके। यशोधरा की निम्न लिखित पंक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि बुद्धिमान राजकुमार ने भी वधु के चुनाव में त्रुटी नहीं की थी। यशोधरा कहती है—

"सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना।
सबने मेरा भाग्य सराहा, सबने रूप बखाना
खेद किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक-ठीक पहचाना।
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना॥
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।"

❀ ❀ ❀ ❀

इसीलिए यह सोचकर यशोधरा ने शीघ्र ही अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया कि—

"बस जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी।"

किन्तु, किस आधार पर वह अबला नारी इस कठोर संसारयात्रा की परीक्षा में सफल हो सकेगी? वह आधार, वह सम्बल है पूर्ण आत्मविश्वास तथा पति की प्रतीति में अगाध श्रद्धा। तभी तो वह कहती है—

"अर्थ विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ गति है,
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है।"

इसके पश्चात यशोधरा की विरहजन्य वेदना चरम सीमा (Climax) पर पहुँचने लगती है, जहाँ से केवल समुद्र के ज्वार के समान वापिस लौटना ही पड़ता है। प्रभु-प्रतीति के दृढ़ अवलम्बन को पकड़कर ही तो वह आगे बढ़ी, पर कहाँ? विस्मृति की ओर। आत्मविस्मृति की ओर। यह नारी की वह अवस्था है जहां से वह तपाये हुए स्वर्ण के समान पवित्र और उज्ज्वल होकर निकलती है। जहाँ उसके नारीत्व का उच्चतम दिग्दर्शन होता है। अपनी सुधि खोई सी इस अवस्था में उसका वियोग मात्र उसका नहीं रह जाता। मानो वह विश्व में बँट सा जाता है। विश्व के अणु-अणु में उसे अपना ही—अपने हृदय का ही—प्रतिबिंब दिखाई देता है, जैसे एक पहुँचे हुए पुरुष को ईश्वर की व्याप्ति विश्व के जर्रे-जर्रे में नजर आती है। ऐसी अवस्था में उसे मृत्यु भी सुन्दर प्रतीत होती है। कराल काल भी उसे 'सदय' और 'सुकुमार' प्रतीत होता है। पशु-पक्षी और लता-द्रुम भी उसकी वियोग-वेदना में हिस्सा बँटाते हुए पाये जाते हैं और वह नैराश्य की उस अंतिम सीमा पर पहुँच जाती है जहाँ मर्ज बढ़कर उसकी ही दवा हो जाता है। ऐसी ही बेसुध सी

अवस्था में वह जैसे भ्रम में कहने लगती है—'सखि, प्रियतम है वन में। किंतु कौन इस मन में ?' पर फिर उसे कुछ सुधि सी, स्मृति सी, आने लगती है और वह सोचने लगती है—

दिव्य-मूर्ति-वंचित भले, चर्म चक्षु गल जायँ,
प्रलय ! पिघल कर प्रिय न जो प्राणों में ढल जायँ

अब वह अपने प्रियतम को जैसे वन में देखना नहीं चाहती है। यही तो प्रेम का, एकीकरण का, उच्चतम आदर्श है। यदि नारी का प्रियतम उसके प्राणों में न ढल सका तो उसका नारीत्व कहाँ रहा ?

दुख का आधिक्य कभी कभी उस सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ नारी क्या, नर भी मृत्यु की आकांक्षा करने लगता है। ऐसी अवस्था में कदाचित वह मर कर भी सुख पा सकता है और यदि वह मर न सके तो उसकी मनोव्यथा और भी तीव्र और दुखदायक हो जाती है। नारी यशोधरा के समक्ष 'मरण' भी सुन्दर बन कर आया। उसका 'शरण' भी उसे 'भाया'। किंतु उसकी दशा क्या हुई, यह भी राहुल जननी के मुख से सुन लीजिए—

'आली मेरे मनस्ताप से वह पिघला इस बार;
रहा कराल कठोर काल सा हुआ सदय सुकुमार।
नर्म सहचर सा आया री।'

पर प्रश्न यह है, यदि वह विरह विधुरा यशोधरा पर दया भी कर देता तो क्या वह उसे आत्म समर्पण कर सकती ? पर नहीं, यशोधरा का करुण हृदय तो वह कक्ष था, जहाँ 'कैसो हू सयानो जाय, काजर की एक रेख लागिहै पै लागि है।'

'फूलों पर पद रख, कूलों पर रथ लहरों से रास
मन्द पवन के स्पंदन पर चढ़, वह आया सविलास।'

किंतु उसके करुण काजर की रेख उसको लग ही गई। वे साज-बाज सजाकर आने वाले हजरत भी उससे न बच सके, क्योंकि गोपा के कपाल में 'यह भोग' तो था ही नहीं। क्यों? क्योंकि गोपा, गोपा ही नहीं थी, वह तो राहुल-जननी भी थी। उसे अपने पति की थाती की रक्षा करना भी तो अनिवार्य था। इसी अधिकार से वञ्चिता होकर वह मर कर भी तो मर न सकी। 'सुन्दर मरण' को वरण करने में उसे जो संकोच था वह केवल इसीलिए—'स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार।'

इस 'अधिकार' से वञ्चित होकर क्या वह सुखी हो सकी? उसकी व्यथा तो और बढ़ी ही। अब वह एक न रह सकी। उसके दो भाग हो गये। उसका एक अंश तो कहता—

"सब सहने को देह बना! जलने को ही स्नेह बना!"

"स्वामी के सद्भाव फैल कर, फूल-फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही मानो, नूतन निर्झर छूटे।"

किन्तु उसके अन्तरतम में गहरा पैठा हुआ दूसरा अंश कहता—

"प्रिय स्पर्श की पुलकावलि, मैं कैसे आज बिसारूँ?

* * * *

"तन मारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ?
उनके तप के अग्नि-कुण्ड से, घर घर में हैं जागे।
मेरे कम्प, हाय! फिर भी, तुम नहीं कहीं से भागे।"

कितना बिरह? कितना नैराश्य? कितनी मार्मिक व्यथा है! पुरुष का जीवन कितना परिश्रमशील तथा आशाओं से आवद्ध रहता है। और स्त्री का जीवन कितना एकाकी, सहनशील है। पुरुष आपत्तियों का वीरता से सामना करता है। स्त्री उन्हें धीरता से सह लेती है। पुरुष कष्टों की चपेट में अकट हो जाता है। स्त्री दुखों के

बोझ से दब नहीं जाती उसमें भी हँस लेती है। पुरुष बेचैन होता है, स्त्री व्याकुल। पुरुष का हृदय समुद्र की सतह, और स्त्री का हृदय उसका तल है। सतह पर ऊँचे ऊँचे तूफान उठते हैं, जो कभी कभी बड़े प्रलयङ्कर सिद्ध होते हैं। पर तल महान् से महान् और तुच्छ से तुच्छ को भी—सब को—आश्रय देता है। पुरुष लाउड स्पीकर में बोलता है तो स्त्री बाँसुरी की सुरीली तान में गाती है। पुरुष को दुःख होता है, स्त्री को व्यथा! पुरुष का दुःख एक पहाड़ी से अधिक ऊँचा नहीं होता—नहीं हो सकता; स्त्री की व्यथा सागर के तल से भी गहरी जाने की पहुँच—क्षमता—रखती है, इसीलिए उसकी मूक व्यथा को पुरुष, पुरुष होकर नहीं समझ सकता, वह स्त्री बन कर ही कुछ अंश जान सकता है। न्यूमेन तो आत्मा की उत्कृष्ट पवित्रता स्त्री होने ही में मानता है। वह कहता है—

"If thy soul is to go higher into spiritual blessedness, it must become woman; yes, however manly thou mayest be among men."

न्यूमेन ही नहीं, कबीर आदि महात्माओं ने अपने प्रियतम को स्त्री रूप होकर ही पाया है। "लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी होगई लाल।" (कबीर)। हम भी स्त्री-हृदय रखकर नारी-हृदय की कुछ थाह पाने की चेष्टा कर सकते हैं, वरना नहीं।

निम्न लिखित पंक्तियों में नारी-हृदय की उत्कण्ठा, व्यग्रता और नैराश्य की मार्मिक व्यथा का कितना श्रेयस्कर तथा भावुकता से परिपूर्ण प्रदर्शन होता है, यह देखते ही बनता है।

नारी यशोधरा विरह-वह्नि में भस्म हो रही है। एक क्षण व्यतीत हुआ। दो हुए। एक घण्टा हुआ। दिन व्यतीत हो गये। मास खतम हो गया। ग्रीष्म गई, वर्षा आई। पतझड़ गई, वसन्त आया। वर्ष

व्यतीत होने लगे। कल के अंकुरित पौधे आज बड़े हो गये। प्रातः जो कली थी, अब पुष्प बन कर महक रही है। गत वर्ष का नन्हा सा पौधा अब फल देना चाहता है। मन्द-मन्द वायु बह रही है। निर्झरिणी निर्झर शब्द करती हुई आगे बढ़ी जा रही है। अब तक वह प्रियतम के चरणों तक पहुँच चुकी होगी। आनन्दोल्लास में भर रही होगी। पक्षीकुल कलरव कर रहा है। दशों दिशाएँ सुगन्धित हैं। चातक 'पीउ-पीउ' की ध्वनि करने लगा है। पर यशोधरा के 'वनमाली' अभी तक लौटे नहीं हैं। प्रतीक्षा में नवयुवती प्रौढ़ा हो रही है, किन्तु 'वनमाली' के आने का चिन्ह तक नजर नहीं आता। चिन्ता यह नहीं है कि 'वनमाली' ने इतना विलम्ब क्यों लगाया, चिन्ता तो यह है कि जो 'आँखों का अर्घ्य' लिये हुए नारी खड़ी है, वह 'ढलक' न जाय! प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा में वह बह न जाय और वह चढ़ा ही न न पावे। चिन्ता इस बात की है कि जो पूजा का थाल सँजो कर लाई, कहीं ऐसा न हो कि उसके क्षीण बाहुओं से वह गिर जाय। पूजा करने आयी, पर पूजा ही न कर पाये। इससे भी अधिक तो चिन्ता इस बात की है कि 'पाँखों का पंछी' (बिन पाँखों का नहीं; यदि ऐसा होता तो इतनी चिन्ता की आवश्यकता न होती) कहीं उड़ न जाय और वह अपने वनमाली का दर्शन इस भव में पा ही न सके, उसका यह जीवन सार्थक ही न हो सके। यशोधरा के कलेजे की हूक अन्तर्तम से निकल वाणी का रूप धारण करती है—

"कूक उठी है कोयल काली। ओ मेरे वन-माली!

* * * *

"ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का
गिर न जाय वह थाली,
उड़ न जाय पंछी पाँखों का,

आओ आओ हे गुणशाली !
ओ मेरे वनमाली !"

यशोधरा को इतनी व्यग्रता क्यों हुई ? एक चातकी 'पीउ पीउ' चिल्ला उठी इसीलिए न। वह कहती है—

"बलि जाऊं बलि जाऊँ चातकि
बलि जाऊँ इस रट की।
मेरे रोम रोम में आकर
यह काँटे सी खटकी।"

उसका हृदय भी 'पीउ पीउ' चिल्लाया, पर कोई अवलम्ब नहीं रहा। क्या वनमाली वापिस लौटे ? नारी को अब कोई आशा नहीं रही। अभी तक तो वह झूठी आशाओं और आश्वासनों में अपने सुलझे हुए मन को उलझाये हुए थी। अब कैसे धैर्य धारण करे ? कहाँ जाय ? क्या करे ? उसका कहीं स्थान हो सकता था, उसे कहीं आश्रय मिल सकता था तो वह केवल नैराश्य के निकट। अन्त में व्यथित होकर उसने अपने को नैराश्य की गोद में डाल ही तो दिया। अपने हृदय का सारा सञ्चित रस उसी पर न्यौछावर कर दिया। अबला नारी अब और किसकी शरण गहती।

इससे अधिक नैराश्य की सीमा और कहाँ मिल सकती है ? और कहाँ मिल सकती है इससे सुन्दर नैराश्य-जनित पूर्व-स्मृति की कचोट। यशोधरा नारी तिलमिला उठती है—

"फलों के बीज फलों में फिर आये,
मेरे दिन फिरे न हाय !
गये घन कैके बार न घिर आये,
वे निर्झर फिरे न हाय !

> रोती थी आँखें, अपने
>
> मानस की राजहंसनी रानी,
>
> अपने मन की ही जानी !
>
> प्रिय के राग ने सुखा दिया पानी !"

नारी की अंतिम खीझ अपनी सन्तान तक होती है। पराधीन रहते-रहते अपने को इस बीसवीं शताब्दी में भी स्वतंत्र नहीं कर पाई है। कुटुम्बी जनों में वधू की सब से हीन स्थिति रहती है। पति, सास, ससुर उस पर कोप करते, गृह के अन्य सदस्य उस पर क्रोधित होते हैं, पर वधू किस पर अपना कोप प्रकट करे। ऐसी अवस्था में निस्संतान नारी तो कभी-कभी बड़ी भयंकरता का प्रदर्शन करती है। प्यारी, कोमल, लाड़ली ही संतान ऐसी है, जो इस भयंकरता को दबाती है। उस खीझ को, उसके उस कालकूट विष को उदरस्थ कर सकती है। उसी के अवलम्बन पर मातृत्व की भावना सन्निहित हो वह अपनी खीझ अपनी सन्तान पर उतारती है। यहीं अवस्था है जहाँ उसकी वेदना शिखर (Climax) पर पहुँचती है और 'मातृत्व' की सिद्धि प्राप्त कर उसी वृद्धिगत वेदना को कुचलती हुई वापिस लौटती है। मातृत्व के उच्चतम विकास की यह उच्चतम सिद्धि नारी-जीवन का वास्तविक सौंदर्य है, उसकी सार्थकता है। नारी, नारी होकर संसार का कल्याण कर सकती है।

माता यशोधरा की वेदना की चरम सीमा पर पहुँचा अब हम मातृत्व की ओर अग्रसर होते हुए देखते हैं। गंभीर वेदना अब मातृत्व की दासी बन कर गमन करती हुई दिखाई देती है। उसका दुख, उसकी खीज, उसका सुख उसकी लगभग अब राहुल में सीमित हो, निखर उठते हैं। माता यशोधरा अब उस शिशु को पुचकारती तथा चूमती है। कभी खिलाती-पिलाती है और प्यार करती है। अब

वह पाल-पाल कर उसे पालती-पोसती और बड़ा करती हुई देखी जाती है। उन दोनों का वाक्य-विपर्यय भी अब बड़े ही मनोरंजक, सरस तथा वेदना-मिश्रित ढङ्ग से होता है।

ध्यान रखने की बात यह भी है कि सूर और तुलसी के पश्चात् हम यह सोच बैठे थे कि वात्सल्य रूपी मिश्री की डलियें, शायद अब हमें प्राप्त न हो सकेंगी; किंतु ऐसा ज्ञात होता है कि गुप्तजी यह प्रतिज्ञा किये बैठे हैं कि प्राचीन महाकवि जिन प्रसंगों को अकारण छोड़ गये हैं, उनकी पूर्ति कर आगामी पीढ़ी के लिए वे मार्ग परिष्कृत करें, ताकि आज का यह दल दल में फँसा हुआ हिंदी-साहित्य निकट के उज्ज्वल भविष्य में रवीन्द्र पैदा कर सके; रस्किन का उद्भव कर सके; शेली की आत्मा को ढाल सके; रोम्याँ रोलाँ को अपना सके।

शिशु राहुल सो रहा है। वह रोने लगा। राहुल-जननी किस आत्माभिव्यक्ति के साथ उसे चुप कर रही है; नारी की खीझ का कितना उत्तम प्रदर्शन निम्नलिखित पंक्तियों में होता है, क्योंकि अबला की खीझ का प्रश्रय उसका लाल ही तो होता है। वह उसे चुपाती है—

"चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !
रोता है अब किसके आगे ?
तुझे देख पाते वे रोता; मुझे छोड़ जाते क्यों सोता ?
अब क्या होगा ? तब कुछ होता,
सोकर हम खोकर ही जागे। चुप रह० ॥"

पुत्र माता को क्या देता है ? उसके कितने कारणों से वह इस नन्हें जीवन में उऋण हो सकता है ? माता केवल माँ ही तो नहीं होती, वह शिशु की—सन्तान की परिचर्यायिका भी तो होती है। उसके जीवन का अधिकांश भाग भी तो इसी परिचर्या में व्यतीत होता

है। पर, क्या इस परिचर्या से उसे दुःख होता है? वह तो अपने जीवन का सार यही समझती है।

"बेटा, मैं तो हूँ रोने को,
तेरे सारे मल धोने को,
हँस तू है सब कुछ होने को।"

"हँस तू है सब कुछ होने को" में माता का कितना महान त्याग छिपा है। जीवन में माता को कितना कटु कर्तव्य पालन करना पड़ता है, किंतु उसे इसका कितना पुरस्कार प्राप्त होता है? कितना प्रतिकार होता है? नारी होकर उसकी सेवा का कोई मूल्य नहीं? माता होकर उसकी परिचर्या और त्याग का कोई मूल्य नहीं? यही तो न्याय है, जो मनुष्य नारी और माता के साथ करता है? उसका पुत्र गाँधी है तो क्या? रवीन्द्र है तो क्या? उसे कौन जानता है? उसकी पूजा व्यष्टि में—समष्टि में नहीं—कौन करता है? वह तो गलती है, इसीलिए कि संसार के 'राहुल' पल जायँ। बस और उसे कुछ न चाहिए। उसकी आराधना, उसकी सतत साधना का केन्द्र-बिन्दु तो यही है।

"गोपा गलती है, पर उसका राहुल तो पलता है!"

किंतु राहुल कैसी परिस्थिति में पलते हैं, यह भी तो देखने योग्य है। माता का जीवन नारी-रूप में अन्धकार मय ही तो रहता है नारी की जीवन-नौका माता होकर 'जीर्ण-तरी' हो जाती है। उस समय—

"जीर्ण-तरी भूरि भार देख, अरी, टरी।
कठिन पंथ दूर पार, और यह अँधेरी!
सजनी जल्दी पधार, वेग धरे अम्बर धार

पद पद पर विपद अपार, रजनी घन घेरी।
[illegible]।"

ऐसी 'घन घेरी' रजनी में भी माता कह और बहलाया लेती है—

ठहर बाल गोपाल कन्हैया!
राहुल राजा भैया!
कैसे धाऊँ, पाऊँ तुमको हार गई मैं दैया।
सब दूध अन्तुल है बेटा, दुग्ध फेन सी शैय्या
तू ही एक खिवैया, मेरी पड़ी भँवर में नैया,
आ मेरी गोदी में आजा, मैं हूँ दुखिया मैया।"

राहुल अब बोलने लगा है। कहता है—

"रोता है तू अथवा मेरी माँ बन जाती गैया।"

राहुल यशोधरा संवाद के मध्य गुप्तजी जो अद्भुत मार्मिक सरस तथा काव्य-कलापूर्ण भाव व्यक्त कर सके हैं वे यह सिद्ध करते हैं कि उस सरल प्रकृति, ग्रामीण वातावरण में पले हुए खद्दरधारी नर शरीर में, एक महान कलाकार, एक भक्त-आत्मा, नारी-हृदय की एक टीस तथा माता का कोमल हृदय छिपा हुआ है।

घर का दीपक या तो पति होता है या पुत्र। नारी या माता तो शायद घर का अन्धकार ही समझी जाती है? यह कथन कहाँ तक सत्य है यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु मानव-समाज ने उसे ऐसा ही समझा है, समझ रहा है। मानव-समाज के हृदय की गूँज हमें यशोधरा के निम्न-लिखित कथन से मिलती है—

"आ मेरे अवलम्ब, बता क्यों,
'अम्ब अम्ब' कहता है?
'पिता पिता' कह, बेटा,
जिनसे घर सूना रहता है।"

(माता या नारी की यह परिस्थिति शायद इसीलिए घटित हो सकी है कि "Men are to go and women are to weep.")

किन्तु यही बात नहीं है। एक बात और भी इस 'पिता-पिता' कहलवाने में अलक्षित रूप से कही गई है। वह बात नारी वेदना का मातृत्व की बलि वेदी पर बलिदान होने की कहानी है। भारतीय नारी को अपने प्रियतम की सुधि तो बिसरती ही नहीं है, किन्तु किसी लगन-संलग्न के समान वह यही चाहती है कि यदि कोई बात करे तो पति की, चर्चा चले तो उनकी, सुधि करवाये तो उनकी। उनकी सुधि की बेसुधी में वह यही तो चाहती है कि कोई उसे उसके 'हृदय-घन' की सुधि करावे। पर भारतीय नारी कैसे यह प्रत्यक्ष रूप से पुत्र को सिखाये कि वह गुरुजनों के समक्ष भी उसके प्राणेश्वर का स्मरण करावे। (यशोधरा बिहारी की 'गुरुजन लाज न जानहि' वाली नायिका तो थी नहीं।) 'अम्ब अम्ब' में स्मृति दिलाने वाली वह बात कहाँ, जो 'पिता-पिता' में है। इसीलिए तो वह 'पिता-पिता' कहलवाना चाहती है।

दूसरी उक्ति भी वेदना के कोमल आवरण में—वेदना के व्यक्त करने में—मातृत्व-भावना के सुन्दर सुमन बन कर किस प्रकार खिल उठी है, यह कोई भावुक और सरस हृदय ही जान सकता है।

अ भी तक तो खैर थी। यशोधरा राहुल को 'डिठौना' लगा रही है इसलिए कि नजर न लगे, वह किसी कुदृष्टि का शिकार न हो, पर राहुल पूछता है—

> "मान लिया आँखों में अंजन,
>
> माँ, किस लिए डिठौना ?

यशोधरा उत्तर देती है—

"यही डीठ लगने के लच्छन छूटे खाना-पीना।"

तब राहुल कितनी मार्मिकता से पूछता है—अच्छा, यही बात है तो—

"डीठ लगी तब स्वयं तुझे ही तू है सुध बुध हीना,
तू ही लगा डिठौना, जिसको काँटा बना बिछौना।"

'नूरजहाँ' का काव्य-सौंदर्य

"नूरजहाँ" की ओर हमारी दृष्टि अभी नहीं गयी है। उसका अध्ययन और मनन, जिसके कि वह पूर्ण रूप से योग्य है, अभी नहीं हुआ है मेरा तो खयाल है इस उच्च कोटि के हिन्दी के गौरव काव्य की हिन्दी-साहित्य ने उपेक्षा ही की है। देव-पुरस्कार के समय 'चित्रलेखा' के साथ 'नूरजहाँ' का नाम अवश्य ले लिया गया, किन्तु उसके पश्चात् जैसे हमने उसे समझने की चेष्टा ही नहीं की। 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि के साथ 'नूरजहाँ' का नाम लेना उचित ही न समझा। कदाचित् इसीलिए कि वह किसी प्रौढ़ प्रतिष्ठा प्राप्त कवि की रचना नहीं थी और उस कवि ने इस उत्कृष्ट महाकाव्य के पहिले कुछ फुटकर रचनाएँ ही हिन्दी-संसार को दी थीं। ऐसे कलाकार की ओर ध्यान देना व्यर्थ वितंडावाद और दल-दल में फँसे आत्म प्रशंसा से समन्वित हिन्दी वालों ने सीखा ही कब है? हिन्दी साहित्य के इतने विकसित हो जाने पर भी यह मनोवृति वांछनीय नहीं है।

"नूरजहाँ" के प्रति उपेक्षा में वर्तमान हिंदी-काव्यधारा का भी हाथ है। वह इस प्रकार कि हमारे महान् कलाकारों—प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि—ने अपना ध्यान केवल गीति-काव्य की ओर ही केन्द्रित किया। इसमें संदेह नहीं गीति-काव्य में हृदयगत् भावों की जितनी अधिक और मंजुल व्यंजना हो सकती है, विशेषकर आज की एक सीमा तक उन्नत हिंदी-भाषा के माध्यम द्वारा, वह प्रबन्ध-काव्य में अवश्य कठिन है। किंतु मुक्तकों में जहाँ जीवन का सार-तत्त्व रहता है वहाँ प्रबन्ध-काव्यों में जीवन का विशिष्ट-सर्वांगीण और सुन्दर

सामञ्जस्य। मुक्तकों में जहाँ मार्मिक उत्तम अभिव्यञ्जना हो सकती है, वहाँ प्रबन्ध काव्यों में जीवन की विशद व्याख्या और विवेचना। इसलिये अभिव्यञ्जना के बल पर ही काव्य की सीमा निर्धारित करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रबन्ध-काव्य ही उनमें चित्रित व्यक्तियों के द्वारा तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति के ज्ञापक ग्रन्थ का काम करते हैं। विश्व की अमर भावनाओं का सर्वांगीण दिग्दर्शन कराते हैं। स्फुट रचनाएँ केवल व्यक्ति तक सीमित हो मानव व्यक्ति को ही ऊपर उठाती हैं।

विश्व की सर्वांगीण अमर भावनाओं में, विशद और विशिष्ट सांस्कृतिक चरित्र-चित्रण तथा मानव-व्यक्तित्व में कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय काव्यकार और उसकी रचनाओं पर ही निर्भर है। प्रगीत रचनाओं द्वारा भी सुन्दरतम अभिव्यञ्जना हो सकती है और प्रबन्ध-काव्य भी नीरस हो सकता है। इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य जहाँ काव्योचित गुणों से समन्वित हो जीवन की उत्तम विशद व्याख्या कर कर सकता है वहाँ प्रगीत स्फुट रचना साधारण काव्यकारों द्वारा सार-हीन हो सकती है। यह सब होते भी यह तो मानना ही होगा कि प्रबन्ध-काव्य में भाषा की प्रौढ़ता संस्कृति की महत्ता, जीवन की व्याख्या और चरित्र-चित्रण की उच्चता के कारण वे उत्कृष्ट गुण आ जाते हैं जो सामान्य रूप से लीरिक्स में नहीं प्राप्त होते।

कहानी और उपन्यास में जो अन्तर है वही प्रगीत और प्रबन्ध-काव्यों में भी स्थूल रूप से है। कहानी जैसे शीघ्रता से पढ़ी जा सकती है और उससे जीवन का एक मार्मिक अंश प्रकट किया जा सकता है। उसके समझने, हृदयंगम करने और मनन करने में समय तथा धैर्य की आवश्यकता होती है। आज का युग प्रगीत काव्य का युग कहा जा सकता है। इसमें प्रबन्ध-काव्य के मनन के लिए, व्यापक

बसने के लिए बहुत कम स्थान रह जाता है और 'हरिऔध' जी अथवा 'गुप्त' जी सदृश सफल तथा प्रतिष्ठाप्राप्त काव्यकार ही को पढ़ा और मनन किया जा सकता है। अतएव 'नूरजहाँ' का प्रबन्ध-काव्य होना भी उसके प्रति उपेक्षा का कुछ अंशों में कारण है।

अब 'नूरजहाँ' को लीजिए और काव्य की दृष्टि से उस पर विचार कीजिए। संसार जानता है कि जहाँगीर एक विलास-प्रिय सम्राट हुआ है। आमोद प्रमोद और शिकार ही में वह अपने जीवन की सफलता समझता था। उसे राज-शासन की उतनी चिन्ता नहीं थी। संसार यह भी जानता है कि जहाँगीर ने नूरजहाँ के पति का वध करवा दिया था और नूरजहाँ के कुछ दिन तक मातम मना लेने के उपरान्त उससे निकाह कर शासन की बागडोर उसके हाथों में सौंप दी थी। संसार यह भी तो खूब अच्छी तरह जानता है कि नूरजहाँ ने इस सुअवसर का—आत्म-समर्पण का—लाभ भी भरपूर उठाया और अपने बन्धु-बान्धवों को उच्चातिउच्च पदों पर अधिष्ठित किया। इतिहास के पाठकों को, संभव है, यह बात खटकती हो। इतिहास या कोरे शासनकाल के वर्णन से उन्होंने यह भी समझ लिया हो कि इस विलासी सम्राट ने, तुच्छ स्त्री और उसके रूप-सौंदर्य पर मोहित हो, उसे शासन-भार ही नहीं सौंपा, सिक्कों पर भी उसकी प्रतिमूर्ति अंकित करवा दी। साधारण पाठकों के समक्ष जहाँगीर-नूरजहाँ का यही चित्र अंकित होता है, जो विशेष आकर्षक नहीं और मानवी भावनाओं से व्यक्तिगत जीवन की महत्ता से दूर रखने वाला है। साधारण पाठक की न तो मुगल-सम्राटों के वैयक्तिक जीवन तक पहुँच है और न वह वहाँ तक जाने की चेष्टा ही करता है जिसमें विदेशी यात्रियों द्वारा उनका अति-रंजित वैयक्तिक जीवन अंकित है।

किन्तु इतिहास से भी परे मानव-जीवन की तह में एक महान्

भावनाओं से निर्मित हृदय-रस से सिंचित जीवन भी अन्तर्हित है जो मानव-जीवन का श्रृङ्गार है, जिससे मानव, मानव और जग है। उस तह में एक वह जीवन सन्निहित है जिसके कारण सामान्य तृणवत् हो जाता है; बड़े-बड़े गौरवान्वित सम्राटों के मस्तिष्क चरणों पर लोटने लगते हैं। उसी अन्तःपुकार की शक्ति पर—उन्हीं भावनाओं पर—वे संसार के प्रबल विरोध को ठुकरा कर भी अपने जीवन को अर्पित कर देते हैं। History repeats itself की उक्ति को चरितार्थ करने के लिए अथवा जहाँगीर-नूरजहाँ की भावनाओं का प्रमाणित और साकार करने के लिए मानों एडवर्ड महोदय ने भी संसार के समक्ष वही आदर्श उपस्थित किया कि सम्राट केवल शासन का एक कलपुर्जा और प्रधान पुर्जा ही नहीं होता। उसका व्यक्तिगत जीवन भी होता है, हृदय भी होता है और उसमें एक ऐसा प्रेम भी होता है जो मानवीय है, जहाँ उसमें और साधारण मानव-हृदय में कोई भेद नहीं।

यही भावनाएँ तो काव्य की जननी हैं जिनसे मानव-हृदय-स्थल की निर्मल निर्झरिणी उद्गत होती है और जिसका सुमधुर जल मानव को उच्च भावात्मक, भावुक तथा विराट बनाता है। इसी के पश्चात् तो इतिहास चुप और काव्य अग्रसर होता है। 'भक्त' जी के प्रतिभाशाली मस्तिष्क ने वहीं तक पहुँचने की चेष्टा की है। इसमें सन्देह नहीं कि 'भक्त' जी ने मुगलकालीन विदेशियों के यात्रा-विवरणों तथा अरबी-फारसी-काव्यों में वर्णित साहित्य का आश्रय ग्रहण किया है और उसी के बैक ग्राउण्ड पर "नूरजहाँ" का प्रासाद निर्मित किया है, किन्तु उसमें उनका भी तो बहुत कुछ नहीं, सब कुछ है। ढाँचा लेकर अपने जीवन से जीवन और रस, रंग, रूप आदि भरा है।

'भक्त' जी के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने

प्रेमचन्द सदृश ही पर्यवेक्षण और वर्णन-शक्ति पायी है। जिस खूबी से प्रेमचन्द अपनी उर्दू-मिश्रित भाषा शैली के आधार पर सजीव चित्र खींचे चले जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति-प्रेमी, विहंग-सहचर, यह 'भक्त' जी जीवन-रस बरसाता चला जाता है। जैसे प्रेमचन्द में एक अद्भुत प्रवाह है वैसे ही 'भक्त' जी में भी एक विशेष लोच है। इसमें सन्देह नहीं जैसे प्रेमचन्द में कुछ-कुछ असम्बद्धता तथा व्यतिक्रम उनकी सर्वग्राही सूक्ष्म अवलोकन और वर्णन-शक्ति के कारण हो जाता है, वैसे ही 'भक्त' जी में भी पक्षी विशेषों, अलीकुली के सेनापतियों की नाम गणना, पुष्पादि के नाम विशेषों, में कुछ अस्वाभाविकता-सी आती है। इसमें भी सन्देह नहीं भाषा की दृष्टि से पहिले प्रेमचन्दजी कुछ भूलें कर जाते थे, उसी प्रकार 'भक्त' जी भी एक आध स्थल पर 'ऐसी-तैसी' या कुछ त्यक्त शब्दों का प्रयोग कर गये हैं। कहने का आशय यह कि कथा-साहित्य में जो स्थान प्रेमचन्दजी को प्राप्त है भविष्य में काव्य-साहित्य के अन्दर 'भक्त' जी वही स्थान ग्रहण करने योग्य हो सकेंगे।

क्षेत्रों की विभिन्नता होते हुए भी दोनों में भाषा और संस्कृति का साम्य है। प्रेमचन्दजी हिन्दुस्तानी भाषा और मुस्लिम संस्कृति सहित हिन्दू संस्कृति के पक्षपाती हैं। 'भक्त' जी भी जैसे उन्हीं का अनुकरण करते दिखायी देते हैं, अन्तर केवल वही क्षेत्रों की विभिन्नता का है। प्रेमचन्द की भाषा जहाँ व्यवहारोपयोगी है वहाँ 'भक्त' जी की काव्योचित। 'नूरजहाँ' में जहाँ पात्र मुस्लिम हैं, मुगलकालीन परिस्थितियों का चित्रण है, वहाँ हिन्दू संस्कृति रक्षा ही नहीं, विजय भी है। तत्कालीन इतिहास तथा अरबी-फारसी भाषा और साहित्य के कारण 'भक्त' जी की भाषा सजीव, परिमार्जित, मुहावरेदार चलती हुई व्यवहार और काव्योपयोगी हो सकी है। ऐसी ही भाषा के माध्यम द्वारा

वे समस्त कथा-वस्तु को भारतीय ढाँचे में ढाल सके हैं।

अनारकली वाला प्रसंग लीजिए। कितना सुन्दर और मार्मिक है! इतिहास से चाहे इसका सम्बन्ध न हो, किंतु हिंदू नारी की प्रेम-पराकाष्ठा का प्रदर्शन इससे सुन्दर और क्या हो सकता था? यह वर्णन कितना सजीव, कलात्मक और तत्कालीन मुगल सम्राटों की विशेषकर अकबर की—मनोवृत्ति का द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि अनारकली, जिसमें 'शिशुता की निशा सिरानी उग आया यौवन-दिनकर,' एक साधारण नर्तकी ही थी, किंतु उसके नर्तन-कला-प्रदर्शन पर युवा सलीम के प्रेम-विभोर हो आलिंगन करने पर, अकबर जो छिपा हुआ अनार का नृत्य देख रहा था, बाधा डालता है और बाद में उसे बंदीगृह में डाल कर प्रेम-याचना करता है। अनारकली उसकी प्रेम-भिक्षा को ठुकरा देती है। मृत्यु-भय दिखलाने पर भी वह सलीम के प्रति यह सोचती है—

"कर थाम लिया अबला का तो पूरा उसे निभाना।"
"तुम भूल मुझे भी जाना ज्यों बालक स्वप्न सबेरे।
पर भुला न मैं पाऊँगी तुमको हे प्रियतम, मेरे।"

अन्त में विवश हो कह उठती है। नारी जो ठहरी। विवशता ही पायी है पैत्रिक सम्पत्ति जिसने। 'नारी हूँ लज्जा ही के परदे में बँधी हूँ।'

इस प्रसंग का 'नूरजहाँ' की कथा से कोई विशिष्ट सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। पर प्रश्न उठता है कि काव्यकार ने इसे स्थान ही क्यों दिया? इस असम्बद्धता को वह बड़ी सरलता और सुन्दरता के साथ हटाया जा सकता था, किन्तु नहीं हटाया। जब एक बार वह इस घटना को लेखनी-बद्ध कर चुका, तो वह स्वयं भी इस पर इतना मुग्ध हो गया, कि असम्बद्धता के दोष को भी शायद कर्णकवत् अपना लिया।

किंतु इस दोष का सम्बन्ध उसके कला-प्रदर्शन से है और जैसा मैं कह चुका हूँ उसका उद्देश्य हिन्दू नारी के ओज, परम्परा-प्रवृति प्रदर्शन से, जिसके बल पर हिन्दू-संस्कृति सदियों के आघातों को सह कर जीवित रह सकी, तथा मुगल सम्राटों की विलास-प्रियता का दिग्दर्शन कराना है, जिसमें अकबर का स्थान प्रमुख है और जिसके विरुद्ध जहाँगीर ने अमिट प्रेम का परिचय दिया।

कदाचित् अस्पट रूप से लेखक का ध्येय यह भी विदित होता है कि अकबर, जो इतिहास में महान् सुधार प्रिय और अच्छा बादशाह समझा जाता है, किस कोटि का था। और जहाँगीर जिसे दुनियाँ विलास-प्रिय समझती है वह कितना प्रकृत प्रेमी था। इतिहास और सत्य घटना के आधार पर जहाँगीर के चरित्र की रक्षा करना, सम्भव है, इस प्रसंग की सम्बद्धता हो। इसीलिये उसके केवल दो ही पात्र हैं—अनारकली और अकबर। वह हिंदू विराट नारी की प्रतीक है और यह विलासिता का। वह सलीम के प्रति प्रेम और अकबर के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करती है, यह इस बात की सूचक है कि हिंदू संस्कृति प्रबल थी और मुस्लिम-संस्कृति के सम्पर्क में वह आ रही थी। यहाँ इतिहास और काव्य मिलते से नजर आते हैं। इसीलिए वह दृढ़ता के साथ अकबर से कह देती है—

> "तू फिर भी समझ न पाया है हृदय अभी नारी का
> उस पर न विजय पा सकता छलबल अत्याचारी का।"
> "इस कोमल तन के भीतर है हृदय-कोट का मण्डल
> जिसमें न कभी घुस पाये हैं विश्व लुटेरों के दल।"

इस भर्त्सना में कितना जीवन-सत्य सन्निहित है! आगे फिर वह कहती है—

"चिड़ियों-सी पिंजड़े में हैं, हैं राम- राम से रोतीं।
छिप-छिप कर अश्रु गिरा कर दाने विनाश के बोतीं।"

यह अकबर के उस जीवन की झाँकी है जहाँ वह सम्राट नहीं, मनुष्य था, महान नहीं तुच्छ था। इसी कुत्सित मनोवृत्ति के विरुद्ध जहाँगीर में महानता और मानवता अङ्कित की जा सकी है। अन्त में जब उसकी भिक्षा निष्फल होती है, वह विनय पूर्वक कहती है—

"तू इर्षा क्यों करता है! है सारी दुनिया तेरी।
मत छीनो रहने दो तुम, छोटी-सी दुनिया मेरी॥"

तब अकबर की कुत्सित मनोवृत्ति उससे कहला देती है—

मैं अपना मन बहला लूँगा, अच्छा कर लूँगा यह रोगी।"

और वह नारी-हृदय की विजय को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है—

"जा! सुन्दर थी, पर हृदय हीन! मैं जीत नहीं तुझको पाया!"

इसी प्रकार की किन्तु भिन्न रूप से प्रेम की उज्ज्वलता, भव्यता और सुन्दरता मेहर के द्वारा भी लेखक ने चित्रित की है।

नूरजहाँ में तो ईरानी रक्त प्रवाहित हो ही रहा था, किन्तु उस पर भी भारतीय वातावरण का प्रभाव लक्षित हो जाता है; क्योंकि उसके शैशव और कैशोर ने यहीं तो क्रीड़ा की थी, इसी भारत-भूमि पर ही तो वे लहलहाये और चहके थे। इन्हीं के समीचीन चित्रांकण के कारण तो हम लेखक को दोष नहीं दे सकते कि उसने हिन्दी अथवा भारतीय काव्य की अवहेलना की है।

'नूरजहाँ' की नूरजहाँ सुन्दरता और वेदना की प्रति-मूर्ति-सी दिखायी देती है। जन्म होते ही वह निर्जन रेगिस्तान में छोड़ दी जाती है। बचपन और यौवन के क्षणिक उल्लास के पश्चात् भी उसका वैवाहिक जीवन—गार्हस्थ्य-जीवन—सुखमय नहीं हो पाता। नारी, वह नारी जो इन सब दुःखों को झेल ही रही थी और ग्राम-जीवन की एक

झलक को पा—बंगाल-शासक से मुक्ति पाने पर—आत्म-सन्तोष से तृप्त थी, अब पति की हत्या देखती है। उसे पति-हन्ता के आश्रय में रहना पड़ता है। और अन्त में प्रत्यक्ष या परोक्ष आन्तरिक प्रभाव के वशीभूत हो जहाँगीर के प्रबल और उत्कृष्ट प्रेम के सामने झुक जाना पड़ता है। उसके इस जीवन में कितनी वेदना भरी है यही तो देखने योग्य है।

उसके पिता की यह दशा थी कि उसे ईरान छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। क्यों? क्योंकि अब उसके लिए स्वदेश में जीवन-निर्वाह का कोई साधन नहीं रहा था। उसकी माता साधारण खाद्य-पदार्थ भी पड़ोसियों से जुटा सकने में असमर्थ हो गयी थी और परिस्थितियाँ इतनी भयंकर हो गयी थीं कि उसकी माता को अन्त में यह कह देना पड़ा—

"कनी चाट लेना अच्छा है, कनिक माँगने क्यों जाऊँ?
तुम प्रियतम, भूखे सो जाओ, मैं कुछ खाकर सो जाऊँ!"

अन्त में नूरजहाँ की माता के इस प्रोत्साहन पर कि—

"अपनी लो तुम तेग हाथ में भी करती चलूँ दुआ।"

वह अपना प्यारा ईरान ठंडी साँस लेकर छोड़ देता है। वह ईरान—

"शैशव उदित हुआ जिस नभ पर—वही स्वर्ग यह वही धरा!"

सम्राट अकबर के दरबार में, नूरजहाँ के पिता को आश्रय मिल जाता है। यहाँ उस 'अंकुरित बीज' ने जिसने कुछ क्षण पूर्व 'आँख खोल', 'अंडे से निकले पक्षी' के समान अपने 'दो पर फैलाये थे अब—

"गुड़ियों से ब्याह रचाए मिट्टी के बना घरौंदे।
शाह-बाद मूरतें बहुत सी नन्हें पैरों से रूँदे॥"

यहीं 'मुकुल अभी ही खिल कर, मुख खोल अवाक् हुआ' था और जो अभी 'अछूता दामन मधुपों ने नहीं छुआ' था, वह खिला

और विकसा भी। यही उसका 'शैशव शिशिर' सिधारा और 'यौवन वसन्त' फूला। यही 'कुछ नयी साध अंचल में छिप-छिप के झूला झूला।' यही तो वह स्थान था जहाँ मेहर का 'बालपन थक कर के सो गया था' और 'यौवन ने शीश उठाया था।' इसी स्थान पर उसका 'बालापन रूठ चला है, नहीं आता बहुत बुलाती' वाला जीवन वह व्यतीत करती हुई दृष्टिगोचर होती है। इतने ही में उस पर 'मार' मार' की 'धूम' मच जाती है। वह—वह जो उसके अन्दर शिथिल था, सुषुप्त था, 'मरा हुआ था'—अब 'जीवित हो उठा।' और इसी समय शाही बाग में उसका 'शैशव-यौवन-संगम' पर सलीम से परिचय होता है। यहीं उनमें प्रेम का गठ-बन्धन हो जाता है। किन्तु, नारी मेहर, इसका परिणाम तेरे लिए क्या होता है? जन्मभर के लिए चिरवेदना का आह्वान।

मेहर जरा खिल भी न पायी थी, वह चहक भी न सकी थी कि जमीला का उद्भव होता है। उसके उस मृदुल प्रेम को किरकिरा कर देने वाली उसकी एक ईर्ष्यालु सहचरी पैदा हो जाती है। उसके कौमार्य सुलभ अल्हड़पन को और सलीम के प्रति जो उसका प्रेमांकुर पैदा हो जाता है, उसे जमीला नहीं देख सकती। सलीम का मेहर से जरा हँस कर बोलना, कुछ प्रेम दिखलाना उसे असह्य हो जाता है। वह इसी ईर्ष्या की आग में जल कर प्रतिज्ञा कर लेती है—'यदि नाम जमीला है मेरा, पानी में आग लगा दूँगी' ऐसा क्यों? इसलिए कि वह सोचती है कि 'मैं तो वजीर की बेटी हूँ' और वह एक भूले-भटके सौदागर की लड़की जिसके वंशादि का कुछ भी ठिकाना नहीं। मेहर के प्रति इसी द्वेष भावना ने तो सुधार-प्रिय अकबर को भी विचलित कर दिया था। यही से तो नारी की परीक्षा का श्रीगणेश होता है। इसी परीक्षा के प्रारम्भ से ही तो नारी महान् होने लगती है।

यहाँ तो वह स्थल है जहाँ वह नर से श्रेष्ठ, मानव-श्रृंगार, देव्योत्तर है। इसी प्रकार के अग्नितापों के पश्चात् ही तो मेहर खरा सोना बन सकी और 'भक्त' जी के तदनुरूप हृदय को अपनी ओर प्रवृत्त कर सकी।

ईर्ष्याग्नि में जलती हुई जमीला अकबर के पास पहुँचती है और उसके हृदय पर यह बात जमा देती है—

"सलतनत हिन्द का शहजादा, उस मुगल-वंश का यश-वैभव।
जिससे महीप भारी-भारी निस्बत रखना समझें गौरव॥
उसका निकाह होवे उससे जो सौदागर की जाई है।"

❀ ❀ ❀ ❀

"मुझको तो बात खटकती है दुनिया उँगली दिखलाती है।
यह नाटक नित ही होता है वह रोज बाग में आती है॥"

अन्तिम पंक्ति में उसके हृदय की ईर्ष्याग्नि स्पष्ट बोल रही है। बस, अनुरागी और नीति-कुशल किन्तु मानव-हृदय से अनभिज्ञ और नारी-हृदय को खिलवाड़ समझने वाला सम्राट अकबर अलीकुली को, 'जिसने अरियों का सर है कुचल दिया गम्भीर शौर्य है दिखलाया', सम्मानित करने की और सुदूर बंगाल प्रान्त में जहाँ 'गड़बड़' थी भेजने की सोच लेता है। नीति-कुशल अकबर 'एक पन्थ दो काज' वाली उक्ति को चरितार्थ कर मेहर के कोमल हृदय को मानों मसल डालता है।

अलीकुली और मेहर का विवाह हो गया। वे बंगाल चले गये, परन्तु क्या वह सुखी हुई? सुख तो उसके भाग्य ही में न था। सलीम के वात्सल्य-प्रेम को भुला कर भी वह अली को न पा सकी।

अली एक तलवार भक्त, कठोर-हृदय शासक था। वह शक्ति का पुजारी यह नहीं जानता था कि इस संसार में प्रणय या प्रेम जैसी भी

कोई वस्तु है। नारी-हृदय से तो जैसे वह सर्वथा अपरिचित ही था। वह तो—

"था पशु बल का व्यापारी अति क्रोधी, निर्दय, बेडर।
* * * *
उर ज्वालामुखी सदृश ही था गर्म सदा ही रहता।
उसके मरु-मानस थल से रस-जीवन कभी न बहता॥
सब कला बला थी उसको, सौंदर्य-प्रेम की माया।"

उसके समक्ष मेहर की यह दशा थी—

"कोमल भावों की यह सरिता रेते में खो जाती थी।
मानवता उसके भय से बच्चों-सी सो जाती थी।"

अलीकुली और मेहरुन्निसा में जमीन-आसमान का अन्तर था। वह कठोर था तो मेहर मृदुल। वह 'पशुबल का व्यापारी' तो यह कोमलतम भावों की सरिता। 'था लक्ष्य मारना मरना केवल उसके जीवन का' तो 'वह ललच-ललच कलियों के चुनने को हाथ बढ़ाती।' इस वैषम्यमय जीवन में ही उसकी जीवन-नौका आगे बढ़ती जाती थी। जीवन की यह विषमता ही तो मानव-जीवन को दुःखमय बनाये हुए है।

नारी कितनी विवशता और व्यथा की प्रतिमूर्ति है। इस काव्य की नूरजहाँ भी तो उसी नारी-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती है। इस नारी का गार्हस्थ्य-जीवन भी सुखकर न हो सका। अली उससे कभी प्रेम के दो शब्द नहीं बोला। उसे कभी प्यार नहीं किया हमेशा रणोन्माद और शासन-मद का शिकार बना रहता। मेहर से तो जब वह मिलता केवल उसे जलाने के लिए। उसकी दृष्टि में वह एक क्रीतदासी से अधिक न थी। उसका रूप-माधुर्य भी उसे लुभाने में असमर्थ प्रतीत होता था। शासन के सम्बन्ध में स्त्री के प्रति वह

सोचता—'सच है औरत के हिस्से में नहीं बुद्धि है आयी'। किसी विषय में भी उससे सम्मति लेना वह हेय समझता था। रूप-माधुर्य से युक्त, कोमल-हृदया मेहर की थी यह दशा जिसमें वह अपना गार्हस्थ्य-जीवन बिताने के लिए बाध्य हुई थी। पर फिर भी उसी में सुख और सन्तोष मान, रुदन में भी हास्य का अभिनय-सा कर लेती थी।

विमलराय बंगाल की एक जमींदारी का अधिपति था। वह प्रति वर्ष नियमित रूप से कर भी देता जाता था। किंतु एक वर्ष आय बिलकुल नहीं हुई; क्योंकि किसानों के पास पैसा नहीं था और फसल मारी गई थी। समय-समय पर इस व्यक्ति ने आवश्यकता से अधिक महायता शासन को दी थी। किन्तु इन सबका कुछ भी विचार न कर, मुल्ला-मौलवियों के यह कहने पर कि वह पक्का धार्मिक है और उसे इस्लाम में दीक्षित करना ही चाहिए, अली को उसे मारने की जिद सवार हो गई। धर्म-परिवर्तन अस्वीकार करने पर उसे बिलकुल मौत के घाट उतार दिया। मेहर ने बहुतेरा समझाया, उसकी तरुण पत्नी पर तरस खाने के लिये कहा, उसने समझाना चाहा -

"उस न्याय तुला में नृप के क्या धनी, अमीर स्वजन क्या?
है खुदा सभी दुनियाँ का फिर उसमें अपनापन क्या?
हर जर्रे-जर्रे में है, हर गुल में उसकी बू है।"

किंतु धर्मान्ध अली ने उसकी कोमल वृत्तियों को ठुकरा दिया और स्पष्ट रूप से यह कह कर कि, 'मजहब में तर्क नहीं है, धर्म अक्ल के बाहर' उस निरपराध का वध कर दिया।

यहाँ तक तो खैर थी किन्तु मेहर तो महर उसकी प्यारी पुत्री लैला के लिए भी उसके हृदय में प्यार का एक कतरा न था। मेहर अपने पति की इस हृदय-हीनता को सोच-सोच कर पछता रही थी

और अपनी 'सौत तलवार' की प्रबलता के कारण व्याकुल थी तब अली आ जाता है। मेहर उससे उस 'सौत' को त्यागने की प्रार्थना करती है। पर निष्ठुर, नारी-हृदय पर पदाघात कर उसे चूर-चूर कर देने वाला अली साफ कह देता है—

"तुझे छोड़ दूँ तज सकता हूँ सब कुछ प्यारी-प्यारी।
पर प्यारी तलवार नहीं हो सकती है कदापि न्यारी॥"[12]

यही तो था प्रेम और प्रणय का मूल्य जो अली चुका रहा था। वह उसे डाँटने भी लगता है। अबोध लैला जो पास में ही खड़ी थी, इसे अनुचित समझती है और 'अच्छा है सलाम' कह कर उसे दाँतों से काट खाती है। शेर अफगन जिसमें लेश मात्र भी प्यार न था क्रोधित हो लैला को पृथ्वी पर पटक देता है।

बस अली की निर्दयता की हद हो गयी। मेहर इससे और अधिक सह न सकी। उसे यदि वह ठुकराता तो सम्भव था वह चूँ तक न करती किंतु अली ने तो उसके 'सुख सुहाग की लाली' को ही ठुकरा दिया था। मेहर का नारीत्व तिलमिला उठा—

उसकी आत्मा सहसा कह उठती है—

"सहनशीलता बहुत दिखाई पर उलटा है हुआ असर।
होते होते आज मेरी बच्ची को पटक दिया भू पर॥
＊ ＊ ＊ ＊
नहीं आत्म-गौरव को मेरे कोई यों ठुकरावेगा।
नहीं आज से कोई मुझको आँखें लाल दिखावेगा॥
＊ ＊ ＊ ＊
मानवता-विहीन पति का अन्याय न यों सह सकूँगी मैं।"[13]

मेहर की इस वेदना का अन्त यहीं नहीं हो जाता। उसे तो इससे अधिक कुछ और देखना था। कदाचित् इसीलिए व्यथा के

घनान्धकार में क्षणिक सुख की एक किरण उसे दिखायी दी। वह कब ? जब सम्राट मि० विंडसर के समान मेहर को भी पागल समझें और जो केवल किसी कवि या भावुक सहृदय की दुनिया में ही संभव है।

अकबर के देहावसान के पश्चात् सलीम 'जहाँगीर' के नाम से दिल्ली का सम्राट हो जाता है। शेर अफगान से बंगाल की सूबेदारी छीनकर वह जमीला के वृद्ध शौहर मियां कुतुब को दे देता है। शेर अफगान विरोध करता है किन्तु जब वह देखता है कि उसके कृतघ्न सरदार उसका साथ ही नहीं देते तो सूबेदारी छोड़कर चल देता है। मेहर की सलाह से ग्राम-जीवन को अपनाता है। मेहर एक बार सुख की सांस लेती है। प्रकृति के साहचर्य पर आती है। बाल्यकाल की मनोकांक्षा पूर्ण होती-सी दिखायी देती है। वह अपने को धन्य समझती है। उसका पति जो अब तक 'तलवार सौत' का भक्त था अपनी तपस्याओं के बाद उसे पुनः प्राप्त होता-सा दिखाई देता है। पर विधि का विधान ! वह कब यह सहन कर सकता था ? नारी को सुख कहाँ ? कपट से 'शेर' का वध किया जाता है। मेहर को सुख आभास भी न मिल पाया था कि फिर उसका जीवन दुःख के अतल सागर में डूब जाता है। शाही भोगविलासों में भी उसकी वृत्तियां नहीं रमतीं : कोई प्रलोभन उसे डिगा नहीं सकता। उसके माता-पिता भी उसमें जहाँगीर के प्रति प्रेम, उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। काव्य ही नहीं इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि ६ महीने नहीं पूरे ६ वर्ष तक किसी ने मेहर को हँसते नहीं देखा, क्रीड़ा करते नहीं देखा।

यहीं से सलीम के उस अमिट प्रेम की जो बचपन से उत्पन्न हुआ था सम्पूर्णता, विशदता और उत्कृष्टता देखने को मिलती है। मेहर के प्रति जो प्रेम बाल्यकाल में घरोंदे बनाते पैदा हुआ, यौवन

के प्रथम उल्लास के साथ खिलवाड़ करते विकसित हुआ, समय के व्यवधान से भुलाया न जा सका वही प्रौढ़ वय में प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। जहाँगीर ने शासन अवश्य किया, शाही सुख-भोग अवश्य किये, तरुणाई सुलभ किलोलें भी अवश्य की होंगी, किन्तु वह मेहर को न भुला सका। मेहर का जो चित्र उसके हृदय-पट पर अंकित था उसे वह अणु मात्र भी धुँधला न कर सका।

मेहर का अली से विवाह तो हो गया था, वह उसके साथ बंगाल चली गयी थी; पर सलीम सब जानता था। उसका सच्चा प्रेम, उसकी सच्ची आत्मानुभूति यह अवश्य जानती थी कि मेहर को अली के साथ सुख नहीं होगा। वह यह भी अवश्य देख चुका था कि विवाहोपरान्त जब वह प्रेम के आवेश में अली का वध करने पहुँचा था तब उसकी हृदयेश्वरी मेहर ने ही उसका विरोध किया था। उससे लड़ने को उद्यत हो गयी थी और सलीम को यह कह कर—

"रमणी क्या रहस्य है? भगवन्! सोचूँगा घर आकर",

वापिस लौटना पड़ा।

किन्तु जब मेहर ने उसे अली का वध न करने दिया, उससे लड़ने को कटिबद्ध हो गयी और अपनी परिस्थिति पर सन्तोष प्रकट किया तब क्या आप यह समझते हैं कि वह सलीम को प्यार नहीं करती थी या इतने शीघ्र विवाह की एक 'रीति-रस्म' के समाप्त होने पर उसका प्रेम भी समाप्त हो गया था? यह समझना नारी हृदय से अपरिचित रहना है। विवाह तो दो शरीरों का हुआ था, आत्माओं का नहीं। फिर उसने इतनी रुक्षता क्यों धारण की? नारी रहस्यमयी नहीं किन्तु उसके रोम-रोम में व्याप्त यह भावना ही तो रहस्यमय है और इस प्रश्न का केवल एक उत्तर है। वह है उसकी 'विवशता और व्यथा', भावनाएँ जो उसकी चिर-जीवन-संगिनी हैं। वह अपनी व्यथाओं को

हँस कर छिपा लेती है तो नर उसे सुखी समझ लेता है । वह अपने उल्लास में यदि अपनी व्यथा प्रकट कर देती है तो हम उसे कपटाचारिणी कह देते हैं । वह कुछ नहीं कहती तो हम उसे रहस्यमयी समझते हैं । और यदि वह कुछ खुल कर कहना चाहती है तो हम समझ बैठते हैं कि वह हमें प्यार नहीं करती ! नर, तूने नारी को न समझ कर युगों से उस पर कितना अन्याय, कितना अत्याचार किया है ! !

नूरजहाँ की निम्न-लिखित पंक्ति पढ़ कर भी यदि कोई कह सके कि सलीम का विरोध करते हुए भी, उसे झिड़कियाँ देते हुए भी, वह उसे हृदय से प्यार नहीं करती थी तो केवल अपनी अज्ञानता प्रदर्शित करेगा । सलीम जब मेहर की ओर प्रेम भरी दृष्टि से देखता है, अली का नाश करने के लिए उसे बताने को कहता है, तब वह उसे समझाती है—

"ऐसे नहीं गिराना होता कभी आँख का पानी"

कितनी भावुकता, कितना गम्भीर प्रेम है उसके इस कथन में । इसीलिए मेहर को यह दोष नहीं दिया जा सकता कि वह सलीम को भूल गयी थी । इस समय तो वह [illegible] में [illegible] थी । अब तो बारी सलीम की थी और वह देखना चाहता है कि जहाँगीर किस प्रकार उस [illegible] मेहर पर [illegible] सका। उसी मेहर से नूरजहाँ [illegible] ।

राजमहल में यद्यपि वह आ तो गयी किन्तु [illegible] की तो बात ही क्या जहाँगीर तक से वह सम्भाषण नहीं करती थी, और न आमोद-प्रमोद का स्वप्न में भी ख्याल करती थी । यद्यपि उसके चारों ओर ऐसा ही वातावरण था जिसमें उसका स्थिर रह सकना असम्भव था परन्तु उसे अपने पति-हन्ता सलीम को देखना भी अच्छा न लगता था ।

दुनियाँ को यही आशा थी कि उसने अब मेहर पर विजय पा ली है। किन्तु शेर अफगन यदि स्वाभाविक मृत्यु से अथवा युद्ध-क्षेत्र में मरता तो मेहर सम्भव है समय के साथ उसे भूल जाती और जहाँगीर की विजय का मार्ग सरल हो जाता। पर बात तो इससे भिन्न थी और उसके हृदय में जहाँगीर के प्रति प्रेम की क्षीण रेखा के होते हुए भी वह उसकी ओर आकर्षित न हो सकी। शनैः शनैः किस प्रकार जहाँगीर उसका प्रेम प्राप्त कर सका यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य जो "भक्त" जी, बिना अस्वाभाविकता लाये व्यक्त कर सके हैं। यह बात सिद्ध करती है कि वे उस प्रक्रिया से भी परिचित हैं जो मानव मस्तिष्क में परोक्ष रूप से विद्यमान है।

एक बार मेहर विषम ज्वर से पीड़ित हुई। मरणासन्न तक हो गयी। जहाँगीर ने रात-रात भर उसके सिरहाने बैठ स्वयं सेवा की, यद्यपि सहस्रों दास-दासी थे। जहाँगीर की निःस्वार्थ सेवाओं ने उसे प्रभावित किया। उसके हृदय [illegible] तो कठोरता का ह्रास होने लगा, प्रेमांकुर पैदा करने लगा। मेहर [illegible] न हुआ। उसका प्रेम तो आत्मा का प्रेम था। जो क्रोध आ रहा था वासनायुक्त प्रेम पर। उसने एक बार इससे मुक्ति पाने के लिए आत्मघात करना चाहा। पर जहाँगीर ने जो छाया की भाँति उसके साथ रहता था ऐसा नहीं करने दिया। जहाँगीर ने अपना सिर झुका दिया—नारी-हृदय पिघल गयी।

वह पिघल तो गयी किन्तु उसका हृदय यह कह ही उठा—

"घृणा नहीं है फिर भी मैं जी खोल नहीं मिल सकती"

जहाँगीर का अविचल प्रेम अब घृणा के अभाव के दूसरे सोपान पर अधिष्ठित हो गया किन्तु अब भी—

"मिलना सम्भव नहीं तुम्हारा छूना मुझे मरण है।"

किन्तु अब उसने जहाँगीर का कुछ सहारा पकड़ लिया। वह भी अब मनोरंजन के लिए भाँति-भाँति के उपाय रचने लगा। मेहर को बागबानी अत्यन्त प्रिय थी। वह उसके साथ जमीन खोदता, पौधे रोपता और फूल चुनता। अपने हाथ से पानी देता। कभी-कभी उसे शिकार खेलने ले जाता। अब मेहर की उदासी, चिन्ता कुछ कम होने लगी थी।

अन्त में जहाँगीर ने उससे एक आग्रह किया। उसने समझा विवाह प्रस्ताव कर रहा होगा। उसने आशीर्वाद कह दिया। उसने समझाया कि विवाह-प्रस्ताव का आग्रह नहीं है। वह पूछती है तब तुम्हारे हृदय में और नई कौन सी इच्छा जागृत हो गयी है। जहाँगीर का आग्रह, अभिलाषा यह थी—

"अपनी नूरजहाँ के सिर पर रख दूँ केवल अपना ताज।"
और "तुम रानी बन बैठा करना, मम हृदय का सिंहासन।"
रानी मधुमालिका सदृश करने को तत्पर थे सुल्तान।
मैं भी जग के सुमन-सुमन से मधु आहर नित पान-सुधाकर।
तेरे हृदय-जग में रस भरता ही रहूँ सदा सुन्दर।।"

ऐसा कहा ही नहीं किन्तु—

"जहाँगीर ने कहा; और रख दिया ताज उसके ऊपर।"

मेहर मानों गड़ गयी। जहाँगीर के अविचल दृढ़ प्रेम की विजय हुई। वह मानों सहमा कह उठी—

"प्यारे भी पतित भौंरों के सिर पर बोझ न इतना डाल।"
"इस अबला का शासक बनो यह सबल पुरुष बोझ संभाल।"

अतः इस मार्मिक स्थल पर काव्य पूर्ण हो जाता है।

अलंकार दृष्टि से यह काव्य बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। प्रत्येक प्रसंग का प्रारम्भ बड़े ही सुन्दर ढंग से और प्रकृति-वर्णन की मधुरता

और विशदता के साथ होता है। मेहर के पिता की मुफलिसी में भी रङ्गरेलियाँ उड़ाने, आनन्दोत्सव मनाने की इच्छा प्रकट करना, साथ ही साथ ईरान देश और एल्बुर्ज पर्वत का वर्णन करना बड़ा ही हृदय-ग्राही, प्रवाहपूर्ण है।

ग्राम्य-जीवन और कृषकों की करुण-कथा का वर्णन और उसके साथ नूरजहाँ की कोमल वृत्तियों का सामंजस्य भी कवि ने बड़ी ही खूबी के साथ दिखाया है। नूरजहाँ की सहचरी रूपसुन्दरी की रचना कर स्पष्ट रूप से वह यह अंकित करना चाहता है कि दोनों संस्कृतियाँ मिल रही हैं। मुसलिम संस्कृति भारतीय वातावरण से भारतीयता का आवरण ग्रहण कर रही है।

अन्त में एक बात और, आज का भारत उसके जीवन के लिए एक ऐसी भाषा चाहता है जो सारे हिन्दुस्थान की हो, जो हिन्दुस्थानी कहला सके, जिससे समस्त भारत की व्यापक संस्कृति का पोषण हो, विभिन्न विचार-धाराओं का एकीकरण सामंजस्य हो। विद्वानों ने इस विषय पर पूरा वाद-विवाद किया है। इन उद्देश्यों की विशदता के साथ क्रियात्मक रूप देकर संपन्न कर सकने का कार्य या तो भारतीय [illegible] प्रेमचन्द ने किया और या 'नूरजहाँ' में उसकी सफलता पायी जाती है। बिना हिचकिचाहट के यह कहा जा सकता है कि इनके काव्यों में नवीन वह उस भाषा का, जिसका केवल विद्वान् स्वामी स्वप्न ही देखते हैं, पूर्णतया दिग्दर्शन होता है, और भाषा का यही प्रांजल रूप भविष्य में ग्रहण किया जायगा।

'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ नाटिका—'ध्रुवस्वामिनी'

"ध्रुव स्वामिनी" प्रसादजी की एक सरस, भावपूर्ण, नारी की विवशता और व्यथा से भरी हुई अति सुन्दर, अभिनय-कला की श्रृङ्गार एवं उस युग की नारी-भावना का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली अंतिम और सर्वश्रेष्ठ नाट्य कृति है, जिसमें उनके पूर्व लिखित नाटकों के समस्त दोषों का बड़ी ही सावधानी से परिहार हुआ है। प्रेमचन्द का जैसे "गोदान" अंतिम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है वैसे ही यह प्रसाद की नाटिका है।

प्रसाद के अन्य नाटकों में हमेशा अभिनय सम्बन्धी दोषों की उद्भावना की जाती रही है जिसमें सत्यांश नहीं हो ऐसी बात तो नहीं है किंतु उनका परीक्षण यथावत् नहीं हुआ है। हिंदी रंगमंच के अभाव के कारण यही बात जरा विचारणीय हो जाती है। किन्तु "ध्रुव स्वामिनी" में उनका प्रौढ़, सजग, अनुभवी नाट्यकार प्रकट हुआ है।

है तो यह एक छोटी-सी नाटिका ही किंतु उसमें प्रसाद के सब गुण अन्य नाटकों के दोषों को छोड़ कर उतर आये हैं। 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' की दृष्टि से ही इसे मैं नाटिका कहता हूँ। इसकी गणना 'राज्यश्री', 'विशाख' की श्रेणी में ऐतिहासिकता एवं आकार की दृष्टि से की जानी चाहिए, किंतु इनसे तो क्या कई दृष्टियों से इसमें नाट्य-कला एवं अभिनय योग्यता 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' से भी अधिक समा गई है। व्यापार का व्यापक विस्तार और नारी की

एक अप्रतिम टीस इसमें जैसे उफन-उफन कर बाहर निकल रही है। तुलना में इसे भारतेन्दु बाबू की 'नीलदेवी' की एक विकसित परम्परा भी मान सकते हैं जैसे 'कामना' को 'भारत दुर्दशा' की।

इसकी वस्तु सीधे-सीधे आधुनिक पाश्चात्य ढंग के नाटकों के समान तीन अङ्कों में बाँट दी गई है। पहिला २६ दूसरा २२ का और तीसरा २३ पृष्ठों का है। इसमें प्रेक्षकों की अभिरुचि का भी ध्यान रखा गया है। कथा का विकास इस ढंग से हुआ है कि वह उत्सुकता की वृद्धि करता हुआ रोचक होता गया है। प्रेक्षकों को उकताहट नहीं हो सकती।

समय की [illegible] रखी गई है। इसमें कुछ ही दिनों अथवा सप्ताहों की घटनाओं को ही स्थान दिया गया है। रंग संकेत भी अभिनय की दृष्टि से यथोचित और पूर्ण है। चरित्र-चित्रण पूर्ण, सरस और जीवन से, वास्तविकता से दूर नहीं बल्कि जीवन के, आधुनिक जीवन के, अतिनिकट है। पहिला अंक ध्रुवस्वामिनी और दूसरा कोमा की विवशता, नारीत्व की पराजय, और उसके जीवन और प्रेम को मनुष्य द्वारा समझे जाने वाले खिलवाड़ के सजीव चित्रण हैं। इतिहास से कैसे कोई अतीत से वर्तमान बना सकता है और उसमें काव्य एवं दार्शनिक चिंतन का सुन्दरतम समावेश कर सकता है, यह प्रसाद से सीखा जा सकता है। प्रसाद तो जैसे अपने इतिहासाध्ययन, चिंतन एवं काव्यत्व को आगे कर देते हैं और फिर उनकी कथारानी जैसे अपने आप नाच-नाच उठती है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' के सम्बन्ध में चाहे यह कथन अल्पांश में ही सत्य हो, किंतु "ध्रुवस्वामिनी" के सम्बन्ध में तो सर्वथा सत्य ही उतरता है।

नारी की विवशता और व्यथा के सजीव चित्रण वाली इस रचना का आधार यद्यपि ऐतिहासिक है, किन्तु, यह सामाजिक अथवा साम-

यिक भी कही जा सकती है। हमारे आज के युग की नारी-भावना और नारी-सहानुभूति का बड़ा ही मार्मिक चित्रांकण सम्पूर्ण नारीत्व युक्त "ध्रुव-स्वामिनी" में मिलता है। युग-युग से सृष्टि के प्रारंभिक एवं सांस्कृतिक विकास के समय से नारी की जो प्रताड़ना, पराजय, व्यथा, विवशता चली आ रही है; नारी के अधिकारों को कुचलने को उसे निम्न-स्थिति में रहने को बाध्य करने की, केवल वासनापूर्त्यर्थ उसके सम्मान करने की, पद-पद पर उसकी भर्त्सना करने की जो व्यावहारिक व्यवस्था दी गई है, शास्त्रों, पुरुष द्वारा रचे गये शास्त्रों में, जो उसके पृथक और हृदय सम्बन्धी अस्तित्व स्वीकार करने का अभाव पाया जाता है उसके विरुद्ध प्रसाद का यह अभिनयोपयोगी सुन्दर छोटा नाटक ऐतिहासिक शास्त्रीय, मानवीय आधार पर एक प्रबल विरोध, एक खीज, एक गम्भीर सहानुभूति है। 'ध्रुव-स्वामिनी' में वास्तव में ध्रुवस्वामिनि का ही चरित्र-चित्रण मुख्य है।

नारी शब्द से हमारे हृदय में अब तक की परम्परा वश एक उस मानवीय प्राणी का बोध होता है जिसका कोई अस्तित्व नहीं, जीवन नहीं, अधिकार नहीं। जिसका अस्तित्व, जिसका जीवन, जिसका अधिकार केवल पुरुष द्वारा रची हुई विडंबना, एक भुलावा, एक प्रवंचना एक Farce एक Mockery है। पुरुष नारी की दुर्बलताओं का, विवशताओं का पूरा पूरा लाभ उठाता आ रहा है। उसकी सीमा को छिन्न-भिन्न, उसके अस्तित्व को मिथ्या, उसके जीवन को खिलवाड़ उसके मस्तिष्क को सत्वहीन, उसके हृदय को एक मजाक समझता आ रहा है। पहले पुरुष ने नारी को खरीदा, खरीदा क्योंकि वह भी प्रकृति की, विश्व की ही एक दुलारी थी। उसमें भी पुरुष के समान उसकी ओर खिंच जाने का, उसमें मिल जाने का महत्वपूर्ण शारीरिक धर्म था। इसलिए मनुष्य ने खरीद कर उसके टुकड़े टुकड़े किये। उसके

केश सँवारे, उसकी आँखें देखीं, उसके मुखमण्डल पर मुग्ध हुआ, उसके वक्षःस्थल और अन्य शरीरांगों को कोटों पर तौला और तब उसने उसे अपने लिए चुना। उस पर मातृत्व का बोझ लाद उसे पराश्रयी, सीमित, परिधियों से घिरी हुई, घरों और दीवारों के अन्दर रहने के लिये बाध्य ही नहीं किया, किन्तु उसे छोड़कर आगे बढ़ गया। नारी ने पुरुष को माया-मोह-ममता-संतति के बन्धनों से रोकना चाहा। वह एक क्षण पर ठहरा, विचार किया और या तो वह आगे चल दिया अथवा उसकी बेबसी की हालत में उससे कड़ी शर्तों पर समझौता किया और इस प्रकार समझौते करते-करते उसे शून्य, और स्वयं को व्यापक सबल और शक्ति संपन्न बनाता रहा। नारी के प्रति जब उसमें मोह, आकर्षण वासना पैदा हुई तब उसने उसका मान सम्मान किया। शास्त्रों ने भी इस सम्मान को उचित ठहरा लिया किन्तु नारी जो पुरुषावलम्बिनी हुई सो सदा के लिए हो गई। व्यवहार में अपदस्थ, हेय, सेवानुगामिनी, संतति-यन्त्र ही वह बनी रही। युग-युग से वह छटपटाती रही, बन्धनों को ढीला करने की कोशिश करती रही, पुरुष को समझाती रही, किन्तु उसके घाव गहरे हुए, उसके बन्धन कसते गए, पुरुष ने कभी समझदारी से उसके प्रति अपना कर्तव्य-पालन नहीं किया। आज नारी पुरुष से सशंक गई है, उसने अपनी सत्ता मिटादी है, वह जाग रही है, उठ रही है किंतु उसकी बेबसियाँ उसे उठने नहीं देतीं, उसके घाव सूखने नहीं पाते। वह अपनी सीमा में हँस लेती है फिर हमेशा रोया करती है। रुदन उसके जीवन का एक विशिष्ट महत्वपूर्ण अंश हो गया है। ध्रुवस्वामिनी के चित्रांकण में प्रसादजी ने बड़ी सरसता, विदग्धता, मार्मिकता एवं एक विचित्र ओज, आज के युग की आधुनिकतम भावना के साथ बड़ा ही अलौकिक स्वरूप उक्त विचारधारा को लेकर उपस्थित किया है। सृष्टि के

प्रारंभ से आज तक की सारी व्यथा ध्रुवस्वामिनी में खिंच आई है।

नारी के त्याग से उसके शरीर का अधिक मूल्य लगाया जाता है। बल्कि पहले की अवहेलना और दूसरे का ही सम्मान किया जाता है। नारी की मूक व्यथाओं के कतिपय कारण हैं। वह जो उसके हृदय में है, जो वह सोचती है उसे कह नहीं सकती। जो कहना चाहती है उसे वह कर नहीं सकती। जो वह करना चाहती है उसके लिए अपना पथ अवरुद्ध पाती है। नारी-स्वातंत्र्य के युग में भी वह आज अवहेलित, वासना-पूर्ति का साधन और पुरुष के अविश्वास की शिकार बनी हुई है। सब देशों में, सब कालों में समान रूप से उसकी निम्न स्थिति ही रही है और प्रकृति सदा उसके लिए निम्न परिस्थितियों का सृजन करती रहती है।

ध्रुवस्वामिनी का वाग्दान हुआ चन्द्रगुप्त (गुप्त) के साथ। चन्द्रगुप्त ही उसे विजय करता हुआ आश्वासन देकर लाया उसके पिता के पास से। उसके हृदय में भी चन्द्रगुप्त की मूर्ति अंकित हो गई। नारी थी, उसका एक भाव था, एक हृदय था। झुक गई, किसी को दे डाला। वह बेवश थी किन्तु षड्यन्त्र से, चन्द्रगुप्त की सज्जनता, त्याग-परायणता से, राज्य निर्लोभता से उसका बड़ा भाई रामगुप्त न केवल राज्य हस्तगत कर लेता है किन्तु प्रभुत्व और शक्ति के कारण ध्रुवस्वामिनी से विवाह भी कर लेता है। दो हृदय भारतीय सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के कारण सदा के लिए बिछुड़ जाते हैं। बेचारी नारी क्या कर सकती थी? वह चन्द्रगुप्त को भूलना चाहती है सच्चे हृदय से, किन्तु भूल नहीं पाती। शायद भुला भी देती किन्तु रामगुप्त का, पुरुष का, 'अहं'—नारी-विजय की उसकी भावना उसे अपनी सीमाओं में कसने की उत्कट अभिलाषा—उसे भूलने नहीं देती। अविश्वासी सम्राट रामगुप्त सम्राज्ञी महादेवी से विवाह तो कर लेता

है किन्तु उपर्युक्त कारण से उसे बन्दी, नजरबंद किये रखता है। शरीर पर उसने अधिकार कर लिया था वह उसकी आत्मा को भी अब विवाह, प्रभुता के नाम पर, पति-अधिकार प्राप्त करने के कारण खरीदना चाहता है। नारी में बाधाओं के होते हुए भी उसकी विवशताएँ उसे मनुष्य के चरण पर लोटने के लिए बाध्य कर ही देती हैं। पर्वत की ओर लक्ष्य कर ध्रुवस्वामिनी अपनी पराजय, अपनी लाचारी को जैसे स्वीकार कर कहती है, 'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता अभ्रभेदी अत्युच्च शिखर! और इन क्षुद्र कोमल लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न। पुरुष का पंजा ही जबरदस्त रहता है फिर 'राजशक्ति" राजचक्र सब को पीसता है, पिसने दो; हम निस्सहायों को और दुर्बलों को पिसने दो।"

ध्रुवस्वामिनी उन नारियों का प्रतिनिधित्व करती है, "जो स्त्री दूसरे के शासन में रह कर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है।" जिसमें "एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता है।" उसका हृदय आकर्षित हुआ था चन्द्रगुप्त की ओर और उसका गठ-बन्धन शक्ति और षड्यन्त्र द्वारा रामगुप्त के साथ किया गया। रामगुप्त न केवल उसे धर्मपत्नी ही बना सका और न उसका प्रेम ही प्राप्त कर सका। उसे ध्रुवस्वामिनी का अविश्वास था। वह चाहता था कि "वह मुझे ही प्यार करे।" नारी के स्वतंत्र प्रेम को, हृदय को वह सीमित करना चाहता था। उसके हृदय की रस-धारा को विपथ-गामिनी बनाना चाहता था, किन्तु यह सम्भव कैसे हो सकता था। रामगुप्त ने, जिसने आगे चलकर पुरुषत्व का परिचय नहीं दिया, इसी अविश्वासी मानविक पुरुष के अन्दर रहने वाली स्त्री के स्वत्व की एक एक आकांक्षा के कारण ध्रुवस्वामिनी को कठोर नियंत्रण में रखा। शायद वह सोचता था, चाहता था कि इस प्रकार चन्द्रगुप्त से मिलन

रखकर और कठोरताओं के द्वारा वह ध्रुवस्वामिनी को—नारी को—अपनी ओर खींच लेगा। अपनी सीमा में, अपने किले में ले आयगा। जैसे वह शक्ति, वैभव और द्रव्य को खरीदना चाहता हो। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में केवल प्रथम मिलन और विवाह के प्रथम का एक आकर्षण रहता न और सतीत्व की दृढ़ता से, सम्भव था, वह आकर्षण भी उसमें से निकल जाता। किन्तु रामगुप्त तो निर्वीर्य था, उसमें क्लीवता के अंश अवश्य रहे होंगे इसीलिए उसने ध्रुवस्वामिनी—नारी का सबसे अधिक अविश्वास किया और अपने और उसके आगे पीछे कुछ एक ही आदि, स्त्रियों का समूह खड़ा कर लिया। नारी के प्रति जो पुरुष में एक सहज आकर्षण होता है उसका परिचय भी नहीं दिया। यद्यपि कथानक से उसके पूर्ण क्लीव होने के कथन का पूरा पूरा समर्थन नहीं होता और वह केवल कार्यों से ही क्लीव माना गया है। रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी की विवशताओं से लाभ उठाना चाहता था। कतिपय कुछ परिवारों में जब छोटे बालक का विवाह किया जाता, अथवा वर में किसी प्रकार की कमजोरी होती या कुछ क्लीवता के लक्षण पाये जाते और इनका कुछ-कुछ परिचय उसके माता-पिता को होता तब उसका विवाह तो नाक रखने के लिए कर दिया जाता किन्तु नववधु पर प्रारम्भ से ही कड़ाई की जाती है। उस पर लाञ्छन लगाये जाते और कुछ वर्षों के पश्चात् उस पर वन्ध्यापन की छाप अङ्कित कर दी जाती रही है। इस कथानक में चूँकि इसका आधार ऐतिहासिक है और सामाजिक स्वरूप रखा नहीं गया है इतना विस्तार न देकर ध्रुवस्वामिनी पर केवल रामगुप्त द्वारा ही कड़ा नियन्त्रण प्रकट किया गया है जो इस लघु नाटिका के योग्य हुआ है और समाज की गर्हित दशा को प्रकट करने वाला है।

बेचारी नारी को दोनों ही ओर दुःख उठाना पड़ता है। पुरुष का

कुछ बनता बिगड़ता नहीं। सब प्रकार से सब शक्तियों का कोप जैसे नारी पर ही हो। पुरुष यदि क्लीव, क्षीण, अशक्त, रुग्ण, विदेश-पर्यटक आदि हुआ तो उसे ही संयम, सन्तोष, निग्रमन, धैर्य धारण करना पड़ता है। दुःख उठाना, जलना और गलना पड़ता है—पुरुष सब तरह से स्वतन्त्र रहता है। यदि उसमें किसी प्रकार का दोष होता है तो उसकी दशा अक्षम्य हो जाती है। वह अपने पति का, पति-परिवार का प्रेम भी प्राप्त नहीं कर सकती। बल्कि वह सहानुभूति के कणों से भी वंचित रह जाती है। इसी का चित्रण ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में भी आ गया है। पति-गृह में नव-वधू ध्रुवस्वामिनी का कोई भी सहायक, सहानुभूति रखने वाला नहीं। पति भी दूर-दूर रहने वाला और अविश्वासी। चन्द्रगुप्त जिसके हृदय में उसका भी एक स्थान था वह उसके पास तक नहीं पहुँच सकता था और उसके विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचे जा रहे थे। वह भी समय, परिस्थिति और बड़े भाई के भ्रातृत्व को देख कर चुप था। ऐसी परिस्थिति में विवश नारी क्या करती? उसकी आत्मा क्षुब्ध थी। नव-वधु जिसके हृदय में यौवनोचित, विवाहोपरान्त होने वाली उमंगें थीं, वह क्या करती? उसमें टीस थी, खीझ थी, करुणा थी, व्यथा थी।

महादेवी ध्रुवस्वामिनी के क्षण-क्षण का हिसाब रखा जाता था। इसीलिए जब सन्ध्या होने पर उसे कैम्प में लौटाने की पुकार मच उठी; "महादेवजी कहाँ है?" की पुकार सुन पड़ी। दासियाँ ही नहीं, स्वयं रामगुप्त भी शायद उसकी खोज करने को निकल पड़ा हो। तब क्षुब्ध नारी क्या करती? इसी समय एक प्रतिहारी भी घबड़ाहट से उसे पाकर पूछती है "महाराज इधर आये हैं क्या?" क्षुब्ध नारी जिसमें उसकी टीस, उसका रुदन छिपा है कहती है—

"मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं, देखो किसी कुंज में ढूँढो।"

ध्रुवस्वामिनी के धैर्य की पराकाष्ठा हो जाती है जब वह रामगुप्त को हिजड़ों और बौनों में आमोद-प्रमोद करते देखती है और उसी समय जब रामगुप्त का वह यह प्रस्ताव सुनती है कि शकराज के माँगने पर वह ध्रुवस्वामिनी को उसे उपहार-स्वरूप देना चाहता है। इसी स्थल पर एक साथ नारी की आत्मा तिलमिला उठती है। उसमें अपना अधिकार भाव जागृत हो उठता है। नारी का अपमान सहन-सीमा से परे पहुँच जाता है। वह रामगुप्त से पूछती है, "मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है।" निर्वीर्य-रामगुप्त के पास क्या उत्तर था? उससे कुछ कहते नहीं बनता किन्तु मन्त्री राजनीति के सिद्धान्त से राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश जब देता है तब ध्रुवस्वामिनी के अन्दर की नारी का वह स्वरूप सजग हो जाता है जो अदम्य है। वह अपना सर्वस्व न्यौछावर कर अपनी रक्षा करती है। वह कहती है, "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता" किंतु उसका वह हृदय-प्रकाश अरण्य-रोदन सिद्ध होता है। उसका स्त्रीत्व पुनः निस्तब्ध हो जाता है। वह मन्त्री आदि को हट जाने का आदेश कर कहती है "मैं केवल रानी ही नहीं किंतु स्त्री भी हूँ।" वह भागते हुए पति को समझाती है "मेरे पिता ने उपहार स्वरूप कन्यादान किया था, किंतु गुप्त सम्राट क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे? (घुटने के बल बैठता) देखिए, मेरी ओर देखिए, मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिये प्राणों का पण लगा सके?

किंतु कायर, पुरुषत्वहीन, नपुंसकों में विनोद करने वाले रामगुप्त

पर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। ध्रुवस्वामिनी की नम्रता, व्यथा उसे और अधिक कठोर ही बना देती है। ध्रुवस्वामिनी—नारी—की विवशता की यहाँ पराकाष्ठा हो जाती है। नारीत्व गलित, अभिमान चूर-चूर, आत्मा के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। नारी थी, विवश थी। उसका हृदय था अब उसने उसे एक ओर रख दिया था। उसका आत्माभिमान था उसे कुचल दिया था। जो नारीत्व था उससे विदाई ले ली थी। जीवन में सत्व था उसे निचोड़कर फेंक दिया था। ध्रुव-स्वामिनी—नारी—क्या करती? पति ही से वह यदि न कहती तो और किससे कहती? अब उसका जीवन, यौवन सब शान्त हो गया था जैसे कोई योद्धा लड़ते-लड़ते थक कर गिर गया हो, जिसके हाथ पैर कट गये हों, जिसकी लोथ ही लोथ हो किन्तु कुछ प्राणों के अंश भी रह गये हों। निम्नलिखित अंश में नारी की विवशता और व्यथा का सार समाया हुआ है। वह क्लीब पति रामगुप्त से कहती है, "मेरी रक्षा करो, मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थी हूँ। मैं स्वीकार करती हूं कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई; किंतु मेरा वह अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी।" "किंतु निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीब!!!" रामगुप्त अपने इरादे से जरा भी विचलित नहीं होता ध्रुवस्वामिनी अपनी हत्या करना चाहती है। कटार निकाल लेती है। रामगुप्त समझता है कि वह उसी की हत्या करना चाहती है। इसी बक्त चन्द्रगुप्त आ जाता है किंतु इस समय तो चन्द्रगुप्त भी उसे प्रिय नहीं। नारी ही तो थी न वह! सीमा और बन्धन, विवशता और व्यथा जिसे पुरस्कार में मिले थे। वह चन्द्रगुप्त से आग्रह करती है, "कुमार! तुम्हें भी इसी समय आना था! (सकरुण देखती हुई) मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ। मुझे अपने अपमान में नग्न देखने का

अधिकार किसी पुरुष को नहीं।"

अन्त में यही निश्चय होता है कि उसे जाना ही होगा। साथ ही यह भी निश्चित होता है कि चन्द्रगुप्त भी नारी-वेश धारण कर जावें। रामगुप्त दोनों को जाने की बात मान लेता है, यह सोच कर ही कि एक साथ दोनों का पीछा छूटा, किंतु शकराज के शिविर में पहुँच कर कुछ और ही घटना घटित होती है। शकराज मारा जाता है चन्द्रगुप्त के द्वारा। उसकी सेना छिन्न भिन्न हो जाती है और ध्रुव-स्वामिनी और चन्द्रगुप्त विजयी होते हैं। (यह प्रसंग भारतेन्दु बाबू के नीलदेवी के ही ढंग का है।) रामगुप्त जो यह सोचे बैठा था कि चन्द्रगुप्त मौत के घाट उतार दिया गया होगा अब विजय का समाचार सुनकर ध्रुवस्वामिनी से मिलने के लिये आता है, किंतु इसके पहले ही पुरोहित के द्वारा जिसने उसका विवाह कराया था, उससे उसका विवाह हो चुका था। रामगुप्त की ओर से उसका मन अब बिल्कुल फिर गया था। चन्द्रगुप्त जो ध्रुवस्वामिनी के लिये सहर्ष मृत्यु-मुख में लाया गया था उसके प्रति फिर उसके हृदय में कोमल-भाव और न्याय जाग्रत हो गया था। पुरोहित के चले जाने के बाद रामगुप्त आता है और सामन्तों को उसके सम्बन्ध में बातें करते सुन-कर एकदम क्रोधित हो उठता है, उन्हें बन्दी बनवाता है; साथ ही चन्द्रगुप्त को भी। चन्द्रगुप्त चुपचाप शृंखला में बँध जाता है। ध्रुवस्वामिनी अब चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करती है—"कुमार! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो, किस अपराध के लिये यह दंड ग्रहण कर रहे हो?" "कुमार! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बन्धन नहीं। कहते क्यों नहीं कि मेरा अपराध यही है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया।"

अन्त में चन्द्रगुप्त लोह शृंखला तोड़कर मुक्त होता है और सैनिकों को अन्य सामन्तों को छोड़ने का आदेश करता है। घटनाएँ

अब विपरीत हो जाती है और रामगुप्त को तथा शिखरस्वामी (मंत्री) चन्द्रगुप्त को भाई समझते और विरोध मिटाना चाहते हैं किन्तु परिषद् का आह्वान होता है। पुरोहित ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के विवाह को असंगत ठहराकर रामगुप्त को ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष (Divorce) की आज्ञा देता है। परिषद् अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त को राज्यच्युत करती है। वह चन्द्रगुप्त को मारना चाहता है पर एक सामन्त चन्द्रगुप्त की रक्षा कर उसका ही वध कर देता है। अन्त में ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त से पुनर्मिलन होता है।

ध्रुवस्वामिनी में 'प्रसाद' का न केवल इतिहास है किन्तु उनका दार्शनिक और कवि भी मिहिरकुल और कोमा के रूप में अवतरित हुआ है। यद्यपि इनका कथानक शकराज से सम्बन्धित किया गया है और पृथकसा लगता है। मिहिरकुल में भारतीय ऋषि और कोमा में सीमाप्रांतीय जाति की एक बाला अपने सच्चे स्वरूप में विकास करती है।

मिहिरकुल शकराज के धर्म गुरु हैं। वे न केवल दार्शनिक ही हैं किन्तु भविष्य द्रष्टा भी हैं, विचारक भी हैं, कोमा उनकी पोष्य पुत्री है। उसका शकराज से प्रेम सम्बन्ध हो जाता है जो कि भविष्य के प्रणय का अग्रगामी स्वरूप है। कोमा में 'प्रसाद' ने नारीत्व की कोमलता के साथ साथ दार्शनिक मधुरता, प्राकृतिक साहचर्य, कोमल और सरस हृदय-भावनाएँ भी अंकित की हैं। 'प्रसाद' की अन्य रचनाओं की विशेषताएँ जैसे इस छोटी सी नाट्य कृति में भी निचुड़ आई हैं।

एक दुर्ग के अन्दर कोमा विचार-मग्न खड़ी है। कभी प्रेम के, कभी प्रणय के, कभी युद्ध के और उसमें जुटे हुए प्राणियों के विचार उसमें एक एक करके आरहे हैं। "सब जैसे रक्त के प्यासे ! प्राण

लेने और देने में पागल ! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं, ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है ?···प्रणय ! प्रेम ! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रणय पुञ्ज उँडेल देता है तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं।" प्रेम की संवेदना कंपन और अनुभूति का कितना सुन्दर शब्द चित्र है ! "उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों बराबर हैं।" कितनी गहरी पैठ है !

शकराज से उसे प्रेम है। भविष्य में वह उसकी प्रणयिनी होने वाली है। वह चाहती है युद्ध न हो; वसन्त की पुकार सुने; कोकिल के स्वर में स्वर मिलाये—एक प्रेम की दुनियाँ में ही जो युद्ध और मार-काट से अलग हो। किन्तु मनुष्य और फिर राजा ! राजा—या तो वह विलासी रहेगा अथवा राजा, वह मनुष्य नहीं बन सकता। शकराज युद्ध में लिप्त है। कोमा भी उसकी दुश्चिन्ताओं में हाथ बँटाना चाहती है, किंतु उसके सामने तो जीवन-मरण का प्रश्न है। वह कोमा को युद्ध और पुरुषार्थ का महत्व समझना चाहती है और यह भी कि स्वयं उसने दिग्विजय का उपक्रम नहीं किया है। किंतु नारी को इससे क्या ? इसके समक्ष तो एक ही ओर समस्थिति है, सबसे विरक्त रहना, अपने आप में और अपने प्रियतम में खो जाना। उसे संसार और कोलाहल पूर्ण, अरसिक, उलझनों में फँसे हुए, देर तक सोचने वाले संसार—से क्या ? वह क्षण-क्षण पर ही न्यौछावर हुआ करती है। वह शकराज से आग्रह करती है कि "संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान के सम्मुख थोड़ासा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।" किंतु मनुष्य से यह कब हो सकता है ? उसका अहं उसे कब नम्र या नत देखना चाहता

है ? वह मर सकता है, मिट सकता है, किंतु पराजय स्वयं स्वीकार नहीं कर सकता । कोमा सोचती है, "अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है ?"

इतना ही नहीं जब शकराज युद्ध में विजयी होता है तब वह और भी उन्मत्त हो जाता है । वह राजनीति के प्रतिशोध में ध्रुव-स्वामिनी की अपने लिये और अन्य स्त्रियों की अपने सामन्तों के लिए माँग करता है । ध्रुवस्वामिनी उसके शिविर में आने वाली है । कोमा को जब यह ज्ञात होता है तब उसकी धारणा, उसके प्रेम पर जैसे एक आघात पहुँचता है । वह उत्तेजित हो उठती है । उसका हृदय जैसे तिलमिला जाता है । उसके हृदय की सरस अनुभूति जैसे बाहर आकर वह उठती है । वह शकराज से कह उठती है, "राजा तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगति की, बसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गयी हूँ । क्या वह मेरा भ्रम था ? कह दो, कह दो कि वह मेरी भूल थी ।"

"मेरे राजा ! आज तुम एक स्त्री (ध्रुवस्वामिनी) को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो ?"

"राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता ?"

गुरु मिहिर भी उसके इस अभिमान पूर्ण कार्य से विरत होने के लिए समझाते हैं, सशंकित करते हैं । किंतु सौंदर्य और नारी का नशा शकराज को, सात्विक, निश्छल रस-संपन्न प्रेम की पुकार, शुभाकांक्षी गुरु की शिक्षा को सुनने नहीं देता । फिर भी शकराज कोमा

के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना चाहता है। एक म्यान में दो तलवारें ठूँसना चाहता है। शायद इसीलिए कि उसे धूमकेतु तारे से अनिष्ट हो जाने की आशंका हो गई थी और वह चाहता था कि रुष्ट गुरु को कोमा समझा कर उसे रुकवा सकी नहीं तो शायद वह कोमा को कुचल कर आगे बढ़ जाता। गुरु को वापिस बुलाना, संतुष्ट करना तो कोमा की वश की बात न थी। वह स्वयं शकराज से यह कह कि "प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी" अपने पोषक पिता के पास ही चली जाती है। उसकी दयनीय दशा, उसकी टीस उसका संचित प्रेम रस तब देखने को मिलता है, जब वह शकराज के वध हो जाने पर उसके शव की याचना ध्रुवस्वामिनी से करती है और वह अस्वीकार कर देती है। यहीं कोमा की विवशता और व्यथा देखने को मिलती है। प्रेम की ओर से ध्रुवस्वामिनी में एक खीज, एक चिढ़ पैदा हो गई थी, प्रेम करना वह नारी का एक अपराध समझती है जिसका दण्ड "प्रायः स्त्रियों को मिला करता है—निराशा ! निष्पीड़न ! और उपहास !!"

इसीलिए जब तक वह ध्रुवस्वामिनी के हृदय-स्थित उस कोमल भाग को जाग्रत नहीं करती जो नारी-नारी में समान है, तब तक कोमा को शकराज का शव भी नहीं मिलता। कोमा ध्रुवस्वामिनी से प्रार्थना करती है, "रानी, तुम भी स्त्री हो, क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी ? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारा शासन-शील को ढँकती, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे जीवन में भी वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है।"

अब शकराज के शव को देना अस्वीकार करना ध्रुवस्वामिनी के

वश की बात नहीं रहती।

इस प्रकार से हम देखते हैं ध्रुवस्वामिनी और कोमा के चरित्रों में इतिहासज्ञ 'प्रसाद' की आधुनिकता, सामाजिकता पूर्णरूप से व्यक्त हो उठी है। नारी के प्रति जो आधुनिकतम भावनाएँ आज वातावरण में मँडरा रही हैं इस नाटिका में उनका सुन्दरता के साथ चित्रण हुआ है। न केवल इतिहास की ही दृष्टि से किन्तु धार्मिक दृष्टि से भी पुरोहित की सृष्टि कर भी 'प्रसाद' जी पुनर्लग्न (विधवा-विवाह) एवं मोक्ष (तलाक) का समर्थन करते हुए पाये जाते हैं। उक्त सामाजिक प्रथाओं का इतिहास और धर्म-सम्मत रूप सामने रख उन्होंने अपनी इस सुन्दर नाट्य कृति में स्त्री समाज का हित किया है। एक विशिष्ट दृष्टिकोण नवीन ढङ्ग से हमारे सामने रखा है, और चूँकि यह साहित्यिक है इसे व्यापक बनाया है। इसी रचना से यह भी प्रकट होता है कि किन अवस्थाओं में इनकी आवश्यकता है। नाटक है छोटा किन्तु इस युग की मूल-भावना का साकार रूप है और भविष्य का पथ प्रदर्शक। फिर भी साहित्यिकता, काव्य अथवा स्थायित्व को जरा भी क्षति नहीं पहुँचती है।

एक बात शायद किसी को भारतीयता के विरुद्ध लगे या खटके वह ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त के प्रति व्यवहार है। किन्तु एक तो युग अब दूसरा है। दूसरे चित्रण कितना ही आदर्श क्यों न हम देखना चाहें किन्तु यथार्थ चित्रण तो वही है जिसे 'प्रसाद' की कल्पना ने ध्रुवस्वामिनी में अंकित किया है। आज भी असन्तुष्ट स्त्रियों में ध्रुवस्वामिनी जैसे चरित्र बहुलता से मिल सकेंगे। इस कृति में 'प्रसाद' अपनी काव्य-प्रणाली कल्पना, सरसता और दार्शनिकता को लिए हुए प्रेमचन्द से मिलते हुए दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द सा सजीव और यथार्थ चित्रण है।

चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी का एक मूक प्रेमी है, वीर है। शकराज, वीर, विलासी, अर्द्धसभ्य और नारी-भावना को न समझने वाला है। मिहिरकुल एक दार्शनिक, भविष्यद्रष्टा साधु है। शिखर स्वामी राम-गुप्त-भक्त अथवा राजभक्त, समय-साधक चतुर मंत्री है। कोमा की सृष्टि नारीत्व की कोमल, भावुकतामयी, दार्शनिकता समन्वित काव्य-धारा को प्रदर्शित करने के लिए ही की गई है। क्योंकि ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु में और ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में यह बातें दिखाना संभव नहीं था। प्रसाद ये न दिखायें यह उनके वश की भी बात नहीं थी। नारी के संघर्ष की सरस हृदय तल से उद्गत भावनाओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखने में प्रसाद की प्रतिभा और कल्पना अद्वितीय है।

रामगुप्त का ही चरित्र पर्याप्त गिरा हुआ है जो जिन परिस्थितियों को प्रसाद' अङ्कित करने वाले हैं उनके सर्वथा उपयुक्त है। वह एक विलासी, निर्वीर्य, अविवेकी युवक है। वह मद्यप भी है और स्त्रियों के मनोभावों को समझने में सर्वथा असमर्थ है। वह अपने मंत्री शिखर स्वामी पर ही निर्भर रहता है और इसलिए शिखर स्वामी का महत्त्व कुछ अधिक बढ़ जाता है। रामगुप्त आवश्यकता से अधिक भीरु, कायर और कर्तव्य-च्युत है। उसमें कभी ध्रुवस्वामिनी के कितने भी उत्तेजित करने पर भी पुरुषार्थ के, पुरुषत्व के भाव जागृत नहीं हुए। शायद विलास, नपुंसकों और हिजड़ों के संसर्ग से ही उसके पुरुषत्व के भाव धीरे-धीरे उससे लुप्त हो गये होंगे। ऐसे मानसिक दुर्बल मनुष्य प्रायः स्त्रियों और कमजोरों पर अधिक अत्याचार करते हुए पाये जाते हैं। रामगुप्त ने भी ध्रुवस्वामिनी के साथ शकराज के सैनिकों के साथ एवं चन्द्रगुप्त के साथ यही किया। चन्द्रगुप्त का वह वध ही कर डालना चाहता था जो उसकी कायरता का द्योतक है।

पुरोहित की सृष्टि कर 'प्रसादजी' ने जोरदार शब्दों में धार्मिक व्यवस्था सहित पुनर्लग्न और मोक्ष का समर्थन किया है।

चन्द्रगुप्त के चित्रण में 'प्रसाद' ने उतना ही ग्रहण किया है जितना कि ध्रुवस्वामिनी के चित्रण और कथा-वस्तु के लिए आवश्यक था। और यद्यपि उसका चित्रण नाटिका में गौण हो गया है तथापि जितना थोड़ा भी हुआ है वह त्रुटिरहित, ओजपूर्ण, रोमांटिक और एक वीर युवकोचित हुआ है। उसके हृदय में ध्रुवस्वामिनी के लिए उत्कट, तरुणाई जनित एवं इस अवस्था के योग्य प्रेम है जिसका प्रादुर्भाव उसके पिता के दिग्विजय के समय हुआ था और वह ध्रुवस्वामिनी के रामगुप्त से विवाह होने के बाद भी बना रहा यद्यपि मूक निष्कलंक रहा, क्योंकि उसे निकाल देना उन दोनों के वश की बात भी नहीं थी, वह प्रकृति विरुद्ध भी होता उसमें प्रेम था जो प्रकट नहीं किया जा सकता था, मान था जो दबा हुआ था, उसमें पुरुषत्व था जो त्याग का अनुचर हो रहा था, उत्तेजना थी जिसे वह स्वयं बढ़ने नहीं देता था। आत्मत्याग एवं आत्मार्पण था जिसका अवसर शकराज के शिविर में ध्रुवस्वामिनी के साथ जाते समय मिला। बड़े गौरव की रक्षा का ख्याल था क्योंकि वह पिता द्वारा गुप्त साम्राज्य को छिन्न भिन्न नहीं देखना चाहता था। रामगुप्त के अत्याचार को भी वह इसीलिए जहाँ तक स्वयं का अपना सम्बन्ध था सहता रहा किंतु ध्रुवस्वामिनी के प्रति अत्याचार और बन्धन को वह सह न सका, क्योंकि उसके प्रति जो उसमें पत्नीत्व का सूक्ष्म आंतरिक भाव था, उसका पतित्व का भाव पुरुषत्व की पुकार—थी उसे वह दबाने में असमर्थ था। फिर भी वह रामगुप्त का विरोधी द्वेषी नहीं था। रामगुप्त की ओर वह निश्छल और सरल ही रहा और इसीलिए अन्त में रामगुप्त का जो चन्द्रगुप्त का वध करना चाहता था एक सामंत

द्वारा वध करवा कर 'प्रसाद' जी ने चन्द्रगुप्त के चरित्र की पूर्ण रक्षा की है।

इस नाटिका का जो प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है वह है पुनर्लग्न एवं मोक्ष का। इतनी सुन्दरता के साथ 'प्रसाद' ने दोनों बातों का समर्थन एक ही साथ कर दिया है। नाटिका के छोटे से ही दायरे में उन परिस्थितियों का भी सृजन कर दिया है जिनसे इनकी अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है और वे आदर्श बन हो जाते हैं। आधार ऐतिहासिक है। कथानक न्याय के अनुकूल और शास्त्रानुमोदित है। नाट्यकला की इस छोटी सी कृति में 'प्रसाद' की प्रतिभा का श्रेष्ठतम निदर्शन हमें एक ही स्थल पर देखने को मिलता है। यह उनकी सुचिंतित, सुव्यवस्थित कलोत्तम कृति है जो "अभिज्ञान शाकुंतल" के समान ही अमर और विश्व पूज्य होनी चाहिए। सरस भाव लहरियाँ और दार्शनिकत्व, मानसिक काव्यत्व और चिन्तन की तो यह माला ही है।

ग्रामवास एवं नगरवास

बड़े आश्चर्य का विषय है कि लोग प्रायः ग्रामीण मनुष्यों को 'किसान' या 'गँवड़े की गंवई तथा उनके वस्त्रों को 'खादी वस्त्र' या 'मोटा कपड़ा' के उपनाम से सम्मानित किया करते हैं। ऐसे पुरुषों की दृष्टि में वे लोग तुच्छ, असभ्य या अर्द्धसभ्य हैं, जिनकी कृपा पर, जिनके सत्य परिश्रम पर सम्पूर्ण भूमण्डल निर्भर है। उन लोगों को ये अधिकांश विद्याभिमानी विद्वान बुद्धि-विहीन एवं अपटु समझते हैं। वे उनको साधारण 'ग्रामीण' समझ उनकी अवज्ञा करते हैं।

अब हमें देखना यह है कि सभ्यता और उनकी सहोदरा भगिनी विद्वता कहाँ निरा हृदय-गगन को सुशोभित करती है। क्या ये देवियाँ नगर निवासियों के हृदयों को स्पर्श करती हैं या उन लोगों ने इनका ठेका ले रखा है? अथवा पारस्परिक प्रेम एवं सहृदयता उन ग्रेजुएटों ही के मस्तिष्कों को अलंकृत करती है जिन्होंने बी. ए. एम. ए. आदि की डिगरियाँ प्राप्त करली हैं; विशेषतः जमींदारों और सेठों कुल्टावी नाई अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है जो अत्याचार और छोटे ही नहीं, बड़े बड़े पापों को पानी के सदृश गुड़क लेते हैं और समाज में सभ्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति कहलाते हैं।

यदि यही मान लिया जाय तो संस्कृत के प्रसिद्ध आदि कवि महर्षि वाल्मीकि को, कवि कुलकुमुद चूड़ामणि कालिदास को, विद्यावारिधि विद्यासागर ईश्वरचन्द्र को भक्ति शिरोमणि तुकाराम और भक्तवर गोसाईं तुलसीदासजी इत्यादि कवियों एवं महात्माओं को निम्न तथा असभ्यों की श्रेणी में बिठाना होगा। क्या यह किसी साहित्य मर्मज्ञ एवं इतिहास परिचित व्यक्ति को सह्य होगा? मैं समझता हूँ कि यदि

ऐसा कहा जाय तो तुरन्त हमारे सुहृदगण आलोचना प्रत्यालोचना का तांता बाँध देवेंगे। और सचमुच है भी यह लांछनीय बात । तो पुनः इन ग्रामीण बेचारे किसानों को क्यों हम अपनी दृष्टि में अयोग्य ठहराते हैं ? क्यों हम उन्हें 'गाँवड़े के गँवार, के नाम से पुकारते हैं । अच्छे अच्छे रत्न इन्हीं खानों से उत्पन्न होते देखे जाते हैं। यदि बन-बन भ्रमण करने वाला व्याध रामायण न रचता तो सर्व पूजनीय महान राम को कौन जानता ? पतिव्रता सीता माता का ज्वलंत उदाहरण सन्मुख रख हमारी माताएँ क्यों पातिव्रत्य का पालन करतीं ?

तंदुल कण भक्षक कणाद में इतनी दार्शनिक शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई ? यदि पहाड़ी प्रांत का एक निवासी शकुन्तला नाटक न रचता तो पाश्चात्य विद्वान क्यों हमारे साहित्य का मूल्य जानते ! क्यों हमें उनके मुख से सुनने को मिलता कि 'हिंदुओं का भी साहित्य है !

गोसाईं तुलसीदासजी, जिनका यश-रवि भारत ही में नहीं संसार भर में प्रकाशित है, का ही प्रभाव है जिससे रामायण का प्रचार भारतवर्ष के प्रत्येक घर में विस्तृत हो अनुपम सुधा सिंचित कर रहा है। आर्य सभ्यता, आर्य वैभव, आर्य राजनीति एवं आर्य इतिहास देखना हो तो रामायण के पृष्ठ उलटो। बिहारी सतसई के रचयिता कवि श्रेष्ठ बिहारीलाल जिन्हें केवल एक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा मिलती थी, गोपालपुर नामक एक छोटे से कस्बे के रहने वाले थे।

महामना मीराँबाई, सम्राट अकबर के प्रेम पात्र, बीरबल हिंदी के आदि-कवि चंदबरदायी, प्रथम कर प्रबंधक टोडरमलजी, भक्तवर तुकारामजी, संगीताचार्य तानसेन, सिक्ख-कुलोत्पन्न महाराज-रणजीतसिंह, प्रसिद्ध बंगला उपन्यास लेखक बंकिमबाबू और लेखनी द्वारा सुधावर्षक पं. सुधाकर द्विवेदी जी इत्यादि सत्पुरुष सब साधारण गाँव के ही रहने वाले थे और उन्हें वहीं का जलवायु प्राप्त हुआ था।

इनका बाल्यकाल ग्रामों में ही व्यतीत हुआ है। इन उदाहरणों के प्रस्तुत करने से हमारा उद्देश यह नहीं है कि शहरों में बुद्धिमान मनुष्य होते ही नहीं, किन्तु तो भी हम इतना निष्कर्ष इससे अवश्य निकाल सकते हैं कि नगर की शिक्षा एवं सुविधाओं ने उन्हें इतनी सफलता अवश्य दिखाई परन्तु सफलता के मुख्य आधार स्वास्थ्य को हमें विस्मरण नहीं करना चाहिये, क्योंकि 'Health is the pillar of all success' यह उन्हें कहाँ से प्राप्त हुआ ? यह वही ग्रामीण जीवन के पीयूष का सुस्वादु रसःपान का फल है कि वे साहित्य संसार में अमर माने जाते हैं।

नगर यद्यपि हमें सुशिक्षित, विद्यावान, उन्नतिशील, कलाकुशल निपुण अवश्य बनाते हैं तथापि ग्राम भी परदे की ओट से हमारी गुप्त सेवा करते हैं और हमारे जीवन वृक्ष का स्वास्थ्य जल से सिंचन करते हैं। नगर हमें वाक् पटु, चपल, बहुभाषाभाषी तथा जनता-परिचित बनाते हैं और साथ ही साथ आलसी और आडंबर युक्त भी बनाते हैं। दूसरी ओर ग्राम हमें भोले-भाले, कष्ट सहिष्णु, सदाचारी तथा अतिविरोधी बनाते हैं; वे हमें परिश्रमी और तत्पर बनाते हैं। वे हमें प्रामाणिक गाढ़ी कमाई खाना भी सिखाते हैं। ग्राम में जहाँ देखो वहीं सौम्य साम्राज्य दृष्टिगोचर होगा। प्रत्येक स्थान पर प्रकृति परिचय मिलेगा। नूतन तरु पल्लवों की छटा आपको ग्राम ही में देखने को मिलेगी। जो सौंदर्य, जो शांति, जो मनोहरता हमें छोटे छोटे गाँवों में सहज ही दृष्टिगत होती है वह शहरों एवं बड़ी बड़ी गगन चुंबी अट्टालिकाओं से पूरित बड़े बड़े नगरों में कहाँ।

गिरि-गुहाओं, पर्वतों, सरसरिता आदि के जो स्वाभाविक मनोरम दृश्य वहाँ देखने को मिलते हैं वे यहाँ कोलाहल पूर्ण स्थान में कहाँ ! शहरों में कोई धनिक भले ही हो जावे और विलास की सामग्री

मोटर, बाग, बगीचा आदि खरीद ले किंतु विश्राम एवं मृदुल गांभीर्य स्वाभाविकता वह कैसे प्राप्त कर सकता है ?

कृत्रिमता कृत्रिमता और स्वाभाविकता स्वाभाविकता ही है। नगरों में जहाँ देखो वहीं कोलाहल मचा हुआ है। कोई डाकखाने को सपाटे से चला जा रहा है, कोई किसी चैक हुंडी भुनाने के लिये शीघ्र शीघ्र पग उठा रहा है। किसी को अपनी दूकान पर जाने की चिंता है तो किसी को ऑफिस और किसी को किसी मंत्रालय जाने का भूत सिर पर सवार है। धनवान् लोग अपनी मोटर बग्गी गड़गड़ाते हुए इधर से उधर सैल सपाटे मार रहे हैं। जिनके पास ये नहीं हैं वे साइकिल पर या किराये के तांगे पर ही अपने कार्य वश चले जा रहे हैं। किन्हीं बेचारों को पाँव पाँव चलकर ही संतोष करना पड़ता है।

कहीं कहीं ये शब्द भी सुन पड़ते हैं 'अरे पकड़ो, पकड़ो! लो वह तो कुचल ही गया', 'अरे मोटर आई, मोटर आई, सरकना भाई', 'जरा पास से निकल गई नहीं तो कुचल ही गया होता'। इस प्रकार प्रबंध करने पर भी कई दूरसे आये—शहर वालों को तो प्रायः अभ्यास रहता है पर कभी कभी उनपर भी नौबत आ जाती है—कितनों का तो प्राणान्त ही हो जाता है। छोटे छोटे शहरों में इतनी उद्वेगपूर्ण अशांति ज्ञात नहीं होती, तथापि हैं वे भी उसी जाति के। शहरों में न कहीं सनातनता ही दीखती है न गार्हस्थ्य प्रेम की छटा का अनुभव होता है। जो धनवान हैं वे तो भोग-विलास, खानपान और नाचरंगों में मग्न हैं और जो लोग साधारण श्रेणी या निम्न श्रेणी के हैं—किन्तु जिनका मन निम्न श्रेणी का नहीं है, उन्हें अधिक परिश्रम करने पर भी पर्याप्त व्यय को द्रव्य नहीं मिलता।

धनिक समाज में प्रायः प्रीति तो होती ही नहीं। वे भी क्या करें बेचारे, जैसे तैसे रात्रि को एक दो बजे सोये, प्रातःकाल छह बजे ही

उठे, प्रातःकालिक क्रिया से निवृत्त हुए कि चिट्ठीरसा आ पहुँचा। बस अब चिट्ठियों के हर्ष-विषाद में मस्त होगये। कोई पत्र हँसाने लगा, कोई चिंतित करने लगा। किसी ने लाभ की सूचना दी तो किसी ने हानि के गहरे समुद्र में डुबा दिया। अथाह अंबुधि में तैर ही रहे थे कि पत्रोत्तर लिखने की चिंता आ उपस्थित हुई। नौ दस बजे तक यही किया और दस बजे भोजन को प्रस्थान किया। जैसे तैसे थोड़ा बहुत खाया; खाया क्या निगल लिया, तत्पश्चात बिना विश्राम किये आ गये दूकान पर। अब दूकान से मोटर में सवार हो किसी पुष्पोद्यान में पहुँचे। कुछ समय यहाँ वहाँ चक्कर काट पर बेचारे मस्तिष्क को शान्ति न लेने दी, जैसे वह इनका क्रीतदास ही हो। रात्रि को बारह एक बजे तक फिर कार्यों में व्यस्त रहे या किसी दिन नाटक आदि खेल देखने या अपने किसी मित्र के भोज में चले गये। आये तो सो गये और दिन के स्वप्न देखते हुए पाँच छः घंटे सोये कि पुनः वही प्रातःकाल; प्रातःकाल क्या इसमें से प्रातः निकालकर जो रह जावे वह आ गया। यह है बेचारों की करुण शोचनीय दशा।

बच्चों और कुटुम्बियों से प्रेम भी कैसा कि उन्हें वस्त्राभूषण उत्तम उत्तम पहिनने को देवेंगे, परन्तु उनकी सुधि कभी न लेंगे और बच्चा यदि आकर 'दादा' कहे तो दुर दुरा देंगे। क्या इसे ही प्रेम कहते हैं? तात्पर्य यह कि साधारण लोगोंको भी बहुत कम अवकाश मिलता है। प्रीति प्रदर्शित करने का समय नहीं मिलता पर नाचरंग के लिये समय और द्रव्य दोनों निकल आते हैं। कई ऐसे भी महाशय हैं जो घर में चाहे भोजन को व्यय न हो पर गुंडेबाजी के लिये सदैव अपनी जेब गरम रखते हैं।

देखिये यह जीवन कैसा सुखप्रद है कि सुबह सूर्योदय के प्रथम उठे, शौचादि से निवृत हो कुछ रूखा सूखा पेट में डाल काम पर

चले गये। मध्याह्न तक शारीरिक परिश्रम किया; वायु सेवन का वायु-सेवन हो गया और व्यायाम का व्यायाम। एक पंथ दो काज। बारह एक बजे आये तो कड़ाके की भूख में जो साधारण भोजन मिला उसीसे उदर पोषण कर एक दो घंटे वृक्षों की शीतल छाया में विश्राम किया और फिर चले गये और काम पर जुट गये। संध्या समय हारे थके आये तो अपने बाल-बच्चों को ले थपकियाँ दे दे कर खिलाने और अपनी थकान मिटाने लगे। उन्हें लतावल्लियों से आच्छादित मण्डप में ला त्रिविध-शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु का स्पर्शन कराने लगे और 'हाँसी बिन हेत माँहि दीखत बत्तीसी' वाली कविता को चरितार्थ करने लगे। जो आनन्द इस निर्धन को मिल रहा है क्या वह किसी नागरिक को प्राप्त हो सकता है?

नगरों में एक ही नगर के पड़ोसी तो पड़ोसी किंतु एक भवन के रहने वाले तक यह नहीं जानते कि नीचे की मंजिल में कौन तथा ऊपर की मंजिल में कौन रहता है। एक दो विशाल गृह में एक समय एक स्थान पर एक मनुष्य रोगी पड़ा है; दूसरे स्थान पर मित्र लोग नाचरंग, पारटी (भोजनादि) आदि में मस्त हैं; तीसरी जगह एक मृतक शरीर पड़ा हुआ है और उनके सम्बन्धी दाहक्रिया करने को उद्यत हैं; एक स्थान पर बिना रोक टोक के दूकान चल रही है, सहस्रों रुपये न्यौछावर हो रहे हैं। सदा अपनी धुन में मस्त रहने वाले इन लोगों को अन्यान्य विषयों को देखने का अवकाश ही नहीं।

ग्राम में देखिये एक दूसरे को सहाय्य प्रदान करने को तत्पर हैं। जरा भी किसी गाँव वाले को कुछ दुख हुआ तो दस बार उसके निकट आ उसका कुशल प्रश्न पूछेंगे। किसी भय की संभावना होतो सब एकत्रित होकर कार्य करेंगे; आपस में प्रेम का व्यवहार रखेंगे। शहर में कोई जावे, चाहे कोई आये उन्हें कुछ नहीं, कोई पूछेगा तक नहीं।

गाँव में यदि कोई जाता है तो वे ग्रामीण, जो कुछ भी उनकी झोपड़ी में रूखा सूखा है वही बड़ी प्रीति तथा दीनतापूर्वक आपके सम्मुख रखेंगे, और आपकी प्रसन्नता पर अपने को सफल समझेंगे; मानपूर्वक दिये हुए चने अमृत तुल्य हैं, परन्तु अपमान सहित दिया हुआ अमृत भी जहर के सदृश है।

ग्राम में स्वास्थ्य के लिये स्वाभाविक बड़ी सुविधा है, तथा वहाँ के जलवायु में स्वास्थ्य-पुष्टिकारक अलौकिक गुण विद्यमान रहते हैं। स्वास्थ्य संबंधी वस्तुओं की वहाँ पर प्रचुरता रहती है। वहाँ म्युनिस-पैलिटी या महतर महतरानी (महत् = घमण्ड + रानी = महारानी) के आश्रय पर नहीं रहना पड़ता 'वह करे खुशामद क्यों जग की जिसका ईश्वर अन्नदाता है', भोली भाली सादगी एवं सरलता में जगन्नियन्ता का निवास रहता है। उनकी सरलता पर 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' का दृश्य नेत्रों में खिंच जाता है। शहरों में स्वास्थ्य सुधारने के लिये, जो ग्राम निवासियों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है अनेकों प्रयत्न करने पड़ते हैं। द्रव्य भी कुछ कम नहीं उठता फिर भी शहर में सदा एक न एक रोग की शिकायत सुनी ही जाती है। नगर वासियों को एक न एक रोग घेरे ही रहता है। वे सदा डाक्टर तथा वैद्यों के आश्रित रहते हैं। वहाँ बाग बगीचे बनाना पड़ते हैं परन्तु ग्राम-वासियों के आहार विहार में यह बात नहीं है; उन्हें स्वस्थ रखने के लिए हल्का धान्य तथा परिश्रम पर्याप्त है। ग्राम के रहने वाले आदर्श तथा अपने धर्म कर्म के पक्के होते हैं और यही उनके स्वावलम्बन का आदर्श है कि कैसी भी विपत्ति के आने पर वे घबराते ही नहीं।

ग्रामवासी अपने झगड़ों का निपटारा गाँव के मुखिया से ही लेते हैं लेकिन जरा शहरवालों की ओर तो दृष्टिपात करिये, वे छोटी छोटी बातों के लिये कचहरी (कच = बाल + हरी = हरण करने वाली)

करने लग जाते हैं। कई महाशय यह भी दोष निकालते हैं कि ग्राम में अत्यन्त बलात्कार तथा चोरी होती रहती हैं और पलक मूँदते ही धान्य के ढेर सफाई से उड़ा लिये जाते हैं। तो मैं उन महानुभावों से पूछता हूँ कि नगरों में क्या चोरी डाके कम पड़ते हैं? जेबकट तथा तिजोरी से माल उड़ाने वाले यहाँ भी अनेक रहते हैं। तब उन्हीं पर क्यों दोषारोपण किया जाता है? यह उनके अज्ञान का ही दोष है जो वे प्रतिवाद नहीं कर सकते, नहीं तो वे गुणवान् तथा विद्यावान् होते तो हमारी दृष्टि में वे ही अवगुण सद्गुण के रूप में परिवर्तित हो जाते।

ग्रामों में बस यही एक दोष है—अज्ञान एवं विद्याविहीनता जिस पर कुछ कहा जा सकता है। इसी पर मैं अवश्य मान्यता स्वीकृत करता हूँ, नहीं तो यदि ग्रामों में विद्या होती तो "सोने में सुगन्ध" वाली कहावत चरितार्थ होती। यदि ग्रामों में शिक्षा का प्रसार हो जावे तो हमारे देश का एक बहुसंख्यक सबल अंग ऐक्य के सूत्र में बँध कर पुष्ट हो जावे। अब मैं समझता हूँ कि पाठकों की प्रवृत्ति ग्रामवास की ओर अग्रसर हो रही होगी; किंतु इस अभिरुचि के कारण यह असंभव है कि इस वर्तमान उन्नतिशील युग में सब नगर, शहर तोड़ फोड़कर हम छोटे छोटे ग्राम बना डालें। इसकी अपेक्षा तो यह उत्तम होगा कि शहरों में सफाई का तथा ग्राम में वास्तविक जीवन का प्रसार किया जाय और ग्रामों-शहरों की उच्च शिक्षा का प्रबंध किया जाय। सर्वोच्च शिक्षा का तो शहर ही में प्रबंध अच्छा होगा किंतु माध्यम शिक्षा उन्हें इस प्रकार मिल सकती है कि पास पास के दो चार गाँवों के बीच विद्यालय स्थापित किये जावें और उन लोगों की विद्याभिरुचि वृद्धि के हेतु उन्हें प्रोत्साहन दिलाया जाय।

कहानी कला की कहानी

किसी भी कला के प्रकट करने में दो तथ्यों की आवश्यकता होती है। ये लेखक, कवि या कलाकार में पहिले से अवश्य विद्यमान रहते हैं। ये हैं एक तो स्वप्नों के समान मस्तिष्क में विभिन्न चित्रों का होना अर्थात् देखी हुई घटनाओं की मानसिक चित्रों के रूप में स्मृतियाँ और दूसरा है इनको रूप देने वाला या प्रेरणा पैदा करने वाला भाव अर्थात् वे भाव जो किसी कलाकार को लिखने के लिए प्रेरित करते हैं।

जब हम स्वप्न देखते हैं तब उसमें हमें अनेक घटनाएँ घटित होती हुई दिखाई देती हैं। ये प्रायः असंबद्ध या बिखरी हुई होती हैं। इसी प्रकार लेखक या कवि के मन में भी कई चित्र भरे पड़े रहते हैं। प्रेरणा देने वाले भाव वे होते हैं जो मन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। जैसे स्वप्न की कुछ बातें तो हमें जागने पर याद रहती हैं और कई बातें हम भूल जाते हैं। प्रायः हमें वे ही बातें अधिक याद रहती हैं जिनका हमारे मन पर अधिक प्रभाव पड़ता है या जो हमें प्रिय या मन को अच्छी लगने वाली होती हैं। ऐसे ही लेखक के मन के अनेक चित्रों में वही, वह प्रकट करता है जो उस पर सब से अधिक प्रभाव डालता है। प्रसादजी ने भी इसी भाव को निम्न लिखित पंक्ति में व्यक्त किया है।

कला का मूल रूप आनन्द प्राप्ति है। कला सुख दुःख आनन्द विषाद आदि सब अवस्थाओं में प्रकट होती और मनोरंजन करती है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में हरिश्चंद्र को पुत्र, पत्नि वियोग का अपार दुःख होता है। अर्ध रात्रि में श्मशान पर पहरा देना पड़ता है। बाद में पुत्र भी मर जाता है। स्वपत्नि शैव्या से उसे अवशिष्ट आधा

कफन भी माँगना पड़ता है। यह कितनी शोकपूर्ण परिस्थिति है, किंतु मानवोत्थान के लिये साहित्य में इसकी भी आवश्यकता है। ऐसे दृश्य भी एक विशेष प्रकार का आह्लाद प्रकट करते हैं।

किसी भी लेखक या कलाकार या उसकी कला अथवा साहित्य में दो बातें पाई जाती हैं। एक तो उसका व्यक्तित्व, दूसरी है उसकी आत्म व्यापकता। किसी भी व्यक्ति को उसकी आवाज से हम दूर से पहिचान सकते हैं क्योंकि हम पहिले से उसको जानते हैं। सब लेखकों एवं कलाकारों में इस प्रकार की व्यक्तिगत विशेषता अवश्य रहती है। इसी से प्रेमचन्द, प्रसाद आदि की रचनाएँ और उनकी आत्माएँ पहचानी जाती है। यही लिखने का ढंग या शैली कहलाती है।

दूसरी जो आत्म व्यापकता है वह कला में पाई जाती है। इसमें मन के भाव प्रकट होते हैं। कोई भी लेखक या कलाकार किसी भी बात को लेकर लिखना चाहेगा तो उसकी आत्मा के ही उद्गार उसमें से निकलेंगे। आत्म व्यापकता का आशय है आत्मा को फैलाना अर्थात् आत्मा में विश्व भर के या प्राणी मात्र में उठने वाले सुख दुःख आदि के भावों की अनुभूति का होना। महात्माजी को चारों ओर का ध्यान रहता था, फलतः उनके साहित्य में उनकी आत्मा का विस्तार और विश्व का प्रतिबिम्ब मिलता है। इसी प्रकार साहित्यकारों की आत्माएँ भी अनुभूति ग्रहण करते करते विस्तृत हो जाती हैं और फिर वे सारे विश्व के सुख दुःखों में अपने को सुखी दुखी समझने लगते हैं। उनकी आत्मा जितनी व्यापक होती या होती जाती है, उतनी ही अनुभूति भी वे अपनी कला या रचनाओं में व्यक्त कर सकते हैं।

यही बात कहानी और कला के लिये भी कही जा सकती है। वेदकाल से लेकर अब तक कहानी हमको मिलती है। पुराणों, उप-पुराणों, उपनिषदों, बौद्ध ग्रन्थों आदि में भी कहानियाँ बहुत बड़े

विस्तार में मिलती हैं। न केवल वेद और उपनिषदों में ही परन्तु बौद्ध और जैन साहित्य में भी धार्मिक कथाओं का उपयोग होता रहा है। जातक कथायें बौद्ध साहित्य की अमर रचनाएँ हैं। इसी समय धर्म प्रचार या खंडन, मंडन आदि के लिये भी कहानियाँ लिखी गईं। हितोपदेश नामक प्राचीन कथा संग्रह काफी प्रसिद्ध है। इसमें पशु पक्षियों के जीवन को लेकर मनुष्यों या राज्य संचालकों को शिक्षा दी गई है। हमारे इस प्राचीन कथा साहित्य में उन कालों के मानव जीवन के या उनके विश्वासों के सजीव चित्र मिलते हैं। संसार भर के साहित्य की नींव कहानी ही है। कहानी का ही आधार लेकर सब लेखकों ने लिखा है और अब भी लिख रहे हैं। सब साहित्यों में कहानी का ही रूप मिलता है। कहानी दन्त कथाओं के रूप में भी अति प्रचलित रही है। इतिहास और साहित्य के सब अंगों में भी कहानी का उपयोग होता रहा है, और इसी के आधार पर सामाजिक इतिहास की रचना भी हुई है। प्राचीन काल से कहानी का रूप चल रहा है। लगभग पाँचवी शताब्दि के लिखे पंचतन्त्र नाम के ग्रन्थ से यह पता चलता है कि संसार भर में सब से पहिले भारतवर्ष में ही कहानियाँ लिखी गई हैं। आजकल जिस रूप में जो कहानियाँ लिखी जाती हैं उस सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन कहानियों का चलन १९ वीं शताब्दि से ही हुआ है।

कहानियों में मनोरंजन तो रहता ही है, कल्पना भी पाई जाती है, परन्तु इनमें जीवन के सत्यों का होना भी आवश्यक है।

कहानी का आदर्श उसकी मुख्य वस्तु है। इसे व्यक्त करने के लिये उसमें व्यवस्था और एक प्रवाह की आवश्कता होती है। वस्तु से हमें पात्रों का परिचय मिलता जाता है। इसलिए कहानी का कथानक स्पष्ट होना चाहिये। पात्रों की बातचीत सरल, स्पष्ट और

मौलिक हो यदि कहानी के पात्र वास्तविक जीवन से दूर रहेंगे तो वे नीरस, अनुपयोगी और अस्वाभाविक हो जायँगे। इसलिये कहानी ऐसी हो कि उसके पढ़ने में हमें ऐसा लगे मानों कि घटनाएँ हमारे जीवन में घटित हुई हों। कहानियों की सफलता उसके पात्रों के चुनाव और निर्माण पर निर्भर रहती है। पात्रों की सृष्टि के लिये कहानी लेखक में मानव जीवन के अध्ययन का पाया जाना उचित है। सजीव पात्र दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो वे जो साधारण मनुष्यों से ऊपर उठे रहते हैं, और दूसरे वे जो साधारण गुण, दोषमय होते हैं।

आज मांग इस बात की है कि कहानियों में उच्च आदर्श बताकर ही सन्तोष न कर लिया जाय बल्कि यथार्थता व जीवन की दैनिक प्रभावशाली घटनाओं का चित्रण भी उनमें हो। अतः कहानी लेखक को आत्म निरीक्षण और नाना अध्ययन, मानव मस्तिष्क की क्रियाओं और हृदयगत भावनाओं से परिचित होना चाहिये।

कहानियों में उनकी कान्ति को बढ़ाने वाला कथोपकथन होता है। इस से ही कहानियों के लेखक का भाव स्पष्ट होता है और प्रभावशाली बनता है। कथोपकथन में भाषा का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा पात्रों, उनकी प्रकृति और स्वभावों, परिस्थितियों और वातावरणों के अनुसार होना चाहिए। कहानीकार की सफलता और प्रतिभा का दिग्दर्शन इन्हीं तत्वों के समुचित उपयोगों पर निर्भर रहता है, क्योंकि कहानी का उद्देश्य हृदय को स्पर्श और पुलकित करना है। कहानी लेखक को नीरस बेकार और प्रतिदिन की साधारण तुच्छ घटनाओं को छोड़ देना चाहिए।

प्रत्येक देश के साहित्य में आज कहानी का स्थान उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। पहिले जब मनुष्यों के पास काफी समय था वह बड़े बड़े उपन्यासों को पढ़ लेता था पर आज जीवन की भाग दौड़ में

इतना समय नहीं मिलता कि वह लम्बी लम्बी रचनाओं को पढ़ सके। अतः उपन्यासों का स्थान कहानियाँ ले रहीं हैं, यद्यपि उपन्यासों का अपना एक स्थान अवश्य है और रहता है। हिंदी में भी आज कहानी का काफी विकास हो रहा है और सुन्दर मौलिक रचनाएँ रची जा रही हैं।

कहानी के आकार के सम्बन्ध में कोई सीमा तो निश्चित नहीं की जा सकती परन्तु उसका छोटा होना या केवल एक ही बैठक में पढ़ा जाना या पाँच सात मिनिट से चालीस पैंतालीस मिनिट में पढ़ लिया जाना आवश्यक है। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि कहानी यदि कितनी ही बड़ी हो और उपन्यास कितना ही छोटा क्यों न हो उनमें भेद अवश्य है। उपन्यासों में जहाँ जीवन की सर्वांगपूर्णता का प्रदर्शन, विभिन्न विभिन्न पात्रों में और घटनाओं के मुख्य और प्रासंगिक वर्णन रहते हैं वहाँ कहानी में केवल जीवन का एक अंग ही रहता है। कहानी में केवल एक मार्मिक घटना या प्रसंग ही लेना चाहिये। एक लेखक ने लिखा है 'कहानी परस्पर सम्बद्ध महत्वपूर्ण घटनाओं का क्रम है जो किसी परिणाम पर पहुँचता है, कहानी में इसलिये अधिक तूल या विस्तार देना उचित नहीं, इसलिये एक लेखक कहानी को एक मुख्य घटना ही मानता है।

साहित्य के अन्य अंगों के समान कहानी का आधार ही कथा वस्तु होती है। पहिले लोग जासूसी या तिलिस्म घटनापूर्ण कहानियों को पढ़ना पसंद करते थे। बाद में लोग सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक कहानियों को पढ़ने लगे। आज मनोवैज्ञानिक या हृदय या मन के भीतर उठने वाले भावों को प्रकट करने वाली कहानियाँ अधिक पसंद की जा रही हैं इसलिये पहिले जहाँ राजा, बड़े पुरुष, महात्मा आदि के चरित्र ग्रहण किये जाते थे। वहाँ आजकल साधारण और

निम्न वर्ग के पात्रों से कहानियों को सजाया जाता है।

कहानियों के लिये कुछ नाटकीय परिस्थितियों का होना भी उसकी सुन्दरता को बढ़ा देना है। इसके लिये उनमें नाटकीय तत्व कथोपकथन को अपनाया जाय तो अच्छा है। कथोपकथन कहानियों में सजीवता लाता है और पढ़ते समय पाठक का मन ऊबता नहीं, किन्तु वे ऐसे होना चाहिये जो नीरस न हों और पात्रों के चरित्र विकास में सहायक हों। कहानी कला के प्रदर्शन में लेखक की शैली बहुत कुछ सहयोग देती है। कहानी या तो वर्णनात्मक या ऐतिहासिक प्रणाली पर या आत्म चरित्र प्रणाली पर या पत्र, डायरी, कथोपकथन आदि प्रणाली पर लिखी जाय, परंतु लेखक के व्यक्तित्व और मानव जीवन के अध्ययन के बिना वह पूर्ण नहीं कही जा सकती। कहानी चाहे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी हो या आधुनिक विचार धारा के अनुसार प्रगतिवादिनी हो पर उसमें घटनाओं और पात्रों की स्वाभाविकता और विषयों का चुनाव और हृदयगत या मानसिक विश्लेषण का होना आवश्यक है।

भाषा तो सरल मुहावरेदार और बोधगम्य होना ही चाहिये तथा पात्र किसी भी कोटि के क्यों न लिये जाँय उनमें समरसता तो होना ही चाहिये।

आलोचकों ने कहानी की जाँच की कई कसौटिएं रखी है। पर सब से बड़ी कसौटी उसकी यही है या होना चाहिये कि उसको पढ़ कर पाठक संतुष्ट हो जाय या उसके मन पर कोई एक प्रभाव अंकित हो जावे।

नाटकों के समान कहानी भी सुखान्त या दुखान्त लिखी जा सकती है। आधुनिक लेखकों का झुकाव युग के अनुसार दुखान्त या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर ही अधिक है।

विश्व में वर्तमान आविष्कारों की स्थिति

हमारे इस युग को हम नये नये आविष्कारों का युग कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं प्राचीन काल से हजारों वर्षों तक हजारों आविष्कार हुए हैं और होते रहते हैं। किन्तु जितने आविष्कार आज दिखाई देते हैं वे सब उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की ही देन हैं। आज की ही नहीं प्राचीन काल से अब तक की शिक्षा, सभ्यता विकास आदि के मूल में आविष्कारों की उपयोगिता ही काम कर रही है। हमारे इस युग के सुख साधनों, समृद्धि, ज्ञान विज्ञान के चमत्कारों का श्रेय नवीन आविष्कारों को ही है। इनने मनुष्य के जीवन उसकी रहन सहन, आचार विचार व व्यवहार आदि में महान परिवर्तन कर दिया है।

वैसे तो नवीन खोजों एवं नये नये पदार्थों या यंत्रों को बनाने को आविष्कार कहते हैं। परन्तु मनुष्य ने अथवा यों कहिये कि हमारे इस युग के निर्माता वैज्ञानिकों ने केवल कई यंत्रों एवं अन्य सुख साधनों का ही आविष्कार नहीं किया है किन्तु उन्होंने मानव मस्तिष्क और प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन का बीड़ा भी उठाया है। परिणामतः यह कहा जा सकता है कि प्राणों के संचार एवं उत्पत्ति करने वाले तत्वों की ओर भी उन्होंने अपनी प्रगति की है। यदि हम अति प्राचीन काल से आविष्कारों की कथायें और आवश्यकताओं पर विचार करें तो हम सहसा आश्चर्य चकित हो जाते हैं।

प्रारम्भ में मनुष्य नग्न अवस्था में रहता और प्रायः फल या वनों के पदार्थों को अपरिपक्व अवस्था में ही खाया करता था। उस समय उसे अग्नि का ज्ञान नहीं था। पानी और हवा में भी शक्तियें होती है यह तो वह जानता ही न था। पर धीरे धीरे जैसी जैसी उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं वैसे वैसे वह नये नये आविष्कार करता चला गया। आदि में आदिम काल के उस मनुष्य ने जब जंगलों में एका-एक अग्नि को जलते हुए देखा, तब पहिले तो वह इसे देख कर देवी शक्ति समझा या आश्चर्य में डूब गया, पर धीरे धीरे उसका मस्तिष्क इस खोज में रहा कि यह शक्ति क्या है और किस प्रकार पैदा की जा सकती है। साथ ही उसने यह भी देखा कि वह इसका उपयोग अपने लाभ के लिये कर सकता है। विचारते विचारते उसे पता पड़ा कि वृक्षों के संघर्षण से अग्नि पैदा होती है। उसने स्वयं कई बार इसका प्रयोग किया और तब वह इस शक्ति के आविष्कार में सफल हुआ और आज अग्नि से होने वाले जितने कार्य हम देखते हैं वे सब इसी आविष्कार पर निर्भर है।

इसी प्रकार जब उसने पानी में तिनकों या लकड़ियों या बाढ़ों के समय बड़े बड़े वृक्षों को बहते हुए देखा तब उसने पानी के बहाव की शक्ति का अनुमान किया और नाव निर्माण का आविष्कार सम्भव हो सका। इसीके सहारे आद्यकाल के उस मानव ने बड़े बड़े नदों को पार किया। और बाद में तो हवा की शक्ति का सहयोग लेकर उसने पाल वाले बड़े बड़े जहाजों को बनाया और दूर दूर तक की समुद्र यात्राएँ की।

ऐसे ही पहिले मनुष्य पैदल ही चला करता था। बाद में उसने पशुओं का उपयोग अपने कार्यों को सरल और सुविधाजनक बनाने के लिये किया। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि प्रारंभ में गाड़ियों

के स्थान पर कोरे लट्ठों या पटियों का ही उपयोग होता होगा। धीरे धीरे उन्हें पहियों का अविष्कार करना पड़ा होगा। ऐसे छोटे मोटे अनेकों आविष्कार उस प्राचीन और माध्यमिक काल के मनुष्यों ने किये जिनके आधार पर हमारे जीवन के अधिकांश कार्य आज भी निर्भर है। यह तो प्राचीन काल के कतिपय अविष्कारों का एक संक्षिप्त विवेचन हुआ जो कम आश्चर्य से भरा हुआ नहीं है। पर जब हम आधुनिक अविष्कारों पर विचार करते है तब तो हमारे आश्चर्य का कोई ठिकाना ही नहीं रहता।

कहाँ तो वह एक समय था जब मनुष्य मीलों तक पैदल आया करता अथवा गाड़ियों पर आता जाता, और एक आज का समय है जब रेलों या मोटरों की सहायता से हम सैकड़ों मीलों की यात्राएँ आराम और सुविधा से कर सकते हैं। एक समय वह था जब हमें एक दो चार मील के समाचार प्राप्त करने एवं पहुँचाने में बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था और एक आज का समय है जब हम मीलों तक न केवल समाचार भेज सकते हैं वरन आमने सामने बातचीत भी कर सकते है और चीज या फोटो भी देख सकते हैं। एक समय वह था जब अपने कुटुम्बियो के समाचार वर्षों तक मिलना कठिन था और आज का समय है जब संसार के कोने के छोटे से छोटे समाचार भी हमें घर बैठे आराम से प्राप्त हो जाते हैं। एक समय वह था जब शारीरिक रोगों का ज्ञान विशेष कर भीतरी रोगों का ज्ञान ही नहीं हो पाता था। एक आज का समय है जब शरीर के भीतरी रोगों का ज्ञान ही नहीं होता बल्कि मस्तिष्क, पेट तथा हृदय, कंठ आदि के भयंकर से भयंकर आपरेशन किये जा सकते है। एक समय वह था जब प्राणों का उत्पन्न करना केवल भाग्य या कर्मों के आधीन समझा जाता था और एक आज का समय है

जब मनुष्य नवजीवन प्राप्त करने एवं मृतकों में प्राणों का संचार करने की बात सोच रहा है। एक समय वह था जब पक्षियों के सरीखे उड़ने की वह कल्पना करता और उसके लिये लालायित रहता था, और एक आज का समय है जब वह सैकड़ों मील प्रति घंटे की गति से आकाश में उड़ा करता है। एक समय वह था जब रात्रि, वर्षा और तूफान आदि में उसका बाहर निकलना असम्भव था और एक आज का समय है जब वह अविराम गति से रातदिन थल जल तथा वायु पर विजय प्राप्त कर पृथ्वी की परिक्रमा किया करता है।

प्राचीन काल में समुद्री यात्रायें होती ही न थीं। परंतु जब पालवाले छोटे छोटे जहाज बनने लगे तब से समुद्री यात्राएँ तो की जाती रहीं किन्तु थोड़ी थोड़ी दूर की तथा समुद्र के किनारे किनारे। उस समय मनुष्य को या यों कहिये कि एशिया और यूरोप के निवासियों को बहुत कम देशों का ज्ञान था। पृथ्वी छोटी थी। पर अब जब से भाफ से चलनेवाले जहाजों का आविष्कार हो गया है तबसे अमेरिका आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों की खोज एवं इनके भीतरी भागों का ज्ञान इन्हीं की सहायता से हो सका है। क्योंकि इनके द्वारा दूर दूर की लंबी समुद्री यात्राएँ की जा सकती हैं। इन जहाजों पर आजकल के सब प्रकार के आराम और सुविधाएँ प्राप्त हैं। इन पर खेल-कूद के, सिनेमा रेडिओ तथा अन्य मनोरंजक तथा सुख के साधन प्राप्त होते हैं। ये जहाज दिन रात चला करते हैं और गहरे समुद्रों में समुद्र तट से बहुत दूरी पर चलकर पृथ्वी की परिक्रमा किया करते हैं। जहाँ पहिले थल मार्ग से जाना महिनों का और प्राणों की जोखम का काम था वहाँ आज सुविधा पूर्वक नये नये देशों का भ्रमण किया जा सकता है।

पहिले जमीन पर यात्रा करना भी सरल नहीं था। देश में प्रायः

सड़कों का अभाव रहता था। कच्ची सड़कों पर ही किसी प्रकार यात्रा करना पड़ती थी। देश के दूरस्थ भागों तथा विदेशों की यात्रा करने में बड़े बड़े दुर्गम पहाड़ों नदी, नदों जंगली जानवरों से भरे हुए जंगलों को पार करना पड़ता था। रास्ते में प्रायः अन्न पानी के कष्ट उठाना पड़ते थे। बिना साथियों के यात्रा करना तो असम्भव ही था। प्रायः रास्ते में लुट जाने का भय भी रहता था। रात्रि में यात्राएँ की ही न जाती थीं। आजकल इस परिस्थिति में महान् परिवर्तन हो गया है। अब पक्की सड़कें बहुतायत से बन गई हैं जिन पर देश के भीतरी भागों में भी मोटरें दौड़ा करती हैं। सभ्य देशों में रेलों का जाल बिछा रहता है जिनके द्वारा सरलता और सुविधा से दिन रात दूर दूर के भागों की यात्राएँ कम समय और कम द्रव्य में की जाती हैं। आज तो बिजली से चलने वाले ऐसे एंजिन बन चुके हैं जो अस्सी और सौ मील प्रतिघंटे की गति से चला करते हैं, अर्थात् सीधे रेल मार्ग से यदि कोई व्यक्ति भारत के उत्तर काश्मीर से कन्या कुमारी की यात्रा करे तो वह केवल बीस या चौबीस घंटे में ही अपनी यात्रा पूरी कर सकता है।

वायुयानों ने मनुष्य की आकाश में उड़ने की आकांक्षा पूर्ति कर दी है। उसकी केवल आकांक्षा पूर्ति ही नहीं हुई है, वरन इनके आविष्कारों ने मनुष्य जीवन पर बड़ा प्रभाव भी डाला है। ये दो सौ तीन सौ मील प्रतिघंटे की साधारण गति से उड़ा करते हैं। पर ऐसा भी सोचा जा रहा है कि इनकी गति प्रति घंटे एक हजार मील से दो हजार मील तक बढ़ाई जा सकेगी। यदि ऐसा हुआ तो इन्दौर से बम्बई की यात्रा केवल घंटे आधे घंटे में की जासकेगी और प्रति-दिन सारे भारत का चक्कर लगाना एक सरल काम हो जायगा। वायुयानों ने युद्ध के स्वरूप को भी बहुत कुछ बदल दिया है। अब

वायुयान बहुत शीघ्रता से शहरों को नष्ट कर सकते हैं। अणुबम ने तो भयंकर दैत्यों को भी परास्त कर दिया है।

इसी प्रकार पाश्चात्य शस्त्र चिकित्सा एवं औषधियों ने भी मनुष्य को अनेक लाभ पहुँचाये हैं। शरीर के भीतर की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के ज्ञान का श्रेय इसी को है। रेडियम की भी खोज की गई है। यह एक सोने से अधिक मूल्यवान धातु है जिसका प्रयोग कैनसर जैसे भयंकर रोग को भी दूर करने में भी किया जाता है। सिनेमा, टेलीफोन, टेलीवीजन, रेडियो, वायरलेस आदि ऐसे वैज्ञानिक साधन हैं जिनके लाभ का हम भलीभाँति जानते हैं और जिनका उपयोग हम प्रतिदिन करते रहते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक अविष्कारों ने अपनी सीमा केवल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित नहीं रखी है किन्तु उसे मस्तिष्क, आकाश और भूगर्भ तक बढ़ाई है। ऐसी ऐसी दूरबीनें और अनुवीक्षण यंत्र बनाये गये हैं, जिनसे प्रकृति की क्रियाओं का ज्ञान आकाश मंडल के अनेक ग्रह नक्षत्रों, ताराओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार मनुष्य के मन की क्रियाओं को जानने के लिये भी वैज्ञानिकों ने साधन तैयार किये हैं। अब वे आत्मा और प्राणों के उद्गम और मूल की खोज में हैं। फूल, पत्तियों वनस्पतियों, तथा छोटे छोटे प्राणियों पर कई प्रकार से उनके प्रयोग सफल हुए हैं। वे फूलों के रंगों और वनस्पतियों के आकार प्रकारों में परिवर्तन कर सके हैं। इसी प्रकार बिजली और एक्सरे के अविष्कारों ने भी संसार को कई लाभ पहुँचाये हैं तथा जीवन की उपयोगिता और महत्व को बढ़ाया है।

अब तक हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि आविष्कारों से विश्व को क्या क्या लाभ हुए हैं अथवा हो सकते हैं। किन्तु इस

सुख दुःख और भलाई बुराई से भरे हुए संसार में जहाँ एक ओर लाभ दिखाई देता है वहाँ दूसरी ओर हानि का साम्राज्य भी प्रकट होता है। मनुष्य कई बातें अपने लाभ के लिये उत्पन्न करता है परन्तु शनैः शनैः वे उसे हानिकर होने लगती हैं। कई धार्मिक विधि विधान कई सामाजिक प्रथायें मनुष्य ने अपने लाभ के लिये चालू कीं, परन्तु समय पाकर वे ही बिगड़ती गईं और उनसे हानियें होने लगीं। इसी प्रकार नव नूतन, वैज्ञानिक आविष्कार मनुष्य के आराम, सुख, सुविधा, समय की बचत आदि के लिये निकाले गये। इन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति भी एक सीमा तक की। परन्तु मनुष्य की लोभ लालसा प्रभुत्व प्राप्ति की महत्वाकांक्षा, परापहरण की कुत्सित भावना आदि ने इन आविष्कारों के दुरुपयोग की ओर मनुष्य को प्रेरित किया। यही नहीं स्वाभाविक रूपसे इन्होंने अन्य कई प्रकार की बुराइयों को भी पैदा कर दिया है। वायुयान जहाँ मनुष्य के समय की बचत करता है वहां बमों की वर्षा कर सहस्रों प्राणियों एवं धन सम्पत्ति के नाश का कारण भी बन जाता है। ऐसे ही अनेक युद्धास्त्र भी वैज्ञानिकों ने निकाले हैं जिनसे खूब संहार होता है, सेना की सेना एवं नगरों को नष्ट किया जा सकता है। युद्ध में जितनी हानियें वैज्ञानिकों के इन आविष्कारों से होती हैं उनका अल्पांश लाभ ये नहीं कर सके हैं।

पहिले जब आधुनिक आविष्कार नहीं थे तब मनुष्य बड़ा कार्य कुशल, परिश्रमी, स्वस्थ, स्वावलम्बी और सुखी था। वह अपनी जीवन की आवश्यकताओं के कार्य स्वतः अपने शरीर से करता था। परिणाम इसका यह निकलता था कि वह आलस्य से बचकर प्रायः पूरे दिन काम में लगा रहता था और आवश्यकतानुसार उसे आराम या विराम भी मिल जाता था। बड़े पैमाने पर पदार्थों के तथा उद्योग धन्धों के

न होने से उसमें अपनी आजीविका कमाने की क्षमता थी और उसमें अधिक संग्रह अथवा लोभ लालच की मात्रा बहुत कम थी। उसे आज के समान इतने मनोरंजनों के साधनों के न होते हुए भी अशान्ति नहीं थी। वह पूर्णतया शान्त एवं विचार करने योग्य अवस्था में था। आज यद्यपि यह सोचा गया था कि समय की बचत होने से मनुष्य को सुख शान्ति प्राप्त होगी तथापि नगरों और उद्योग धन्धों के विकास ने मनुष्य को इतना अधिक काम काजी बना दिया है कि वह प्रातः काल से अर्ध रात्रि तक कामों में जुटा रहता है और उसे विश्राम, मनोरंजन, संतान पालन, शिक्षा या अन्य सामाजिक कार्यों के लिये अवकाश ही नहीं मिल पाता। पहिले जब नगरों का विकास नहीं हुआ था तब गावों में रहता और स्वस्थ शान्ति मय जीवन व्यतीत करता और शुद्ध और पवित्र पदार्थ प्राप्त कर दीर्घ आयुष्यमान होता था। पर आज नागरिक जीवन ने उसे दुर्बल, अस्वस्थ, परालम्बी बना दिया है। वह नैतिक दृष्टि से गिरता जाता है। उसे स्वास्थ्यकर शुद्ध पदार्थ प्राप्त ही नहीं होते। नवीन आविष्कारों ने नये ढंगों को अख्त्यार कर लिया है। फलतः बिजली, सीनेमा आदि आँखों की ज्योति नष्ट कर पीढी की पीढी को निर्बल बना रहे हैं। कल कारखानों के खुलने से सिनेमा, रेडियो आदि के आविष्कारों से, बिजली के प्रयोगों से मनुष्य प्रकृति से दूर होता जाता है और अपना स्वास्थ्य खोता जाता है। नये नये और बड़े बड़े शहरों का निर्माण अवश्य होता जाता है किन्तु सब प्रकार के प्रयत्नों के बाद भी साधारण मनुष्यों के कष्ट और बीमारियें और निर्बलताएँ बेकारियें बढ़ती जाती हैं। सम्पति का एक ही स्थान पर अधिक संचय होता जाता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव जीवन में कई विषमताओं की भी सृष्टि कर दी है। कल कारखाने वाले देशों को अनुमत खाद्य पदार्थ

तथा कच्चे सामान पैदा करने वाले देशों पर अपने स्वार्थ के लिये अधिकार करना पड़ता है और इससे युद्ध और जन संहार की नींव पड़ती है। पराधीनता और संघर्षों की वृद्धि होती है।

ऐसी कई हानियाँ हैं जो वास्तव में विज्ञान की देन हैं पर वास्तव में देखा जाय तो ये विज्ञान की नहीं बल्कि विज्ञान के दुरुपयोग की हैं। अब तक वैज्ञानिक आविष्कारों ने आशा के विरुद्ध लाभ से हानिएँ ही अधिक की हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य और उसकी आवश्यकताएँ

वर्तमान साहित्य की आवश्यकताओं पर विचार करने के पूर्व हमें यह जानना उचित है कि हमारा साहित्य आज से पहिले किस अवस्था में था और आज किस अवस्था में है। जब तक हम यह न जान लें तब तक हमें अपने साहित्य की कमियों का ज्ञान नहीं हो सकता और न हम यह ही जान सकते हैं कि हम भविष्य में अपने साहित्य की धारा को किस ओर प्रवाहित करें ताकि हमारा हिन्दी साहित्य उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच कर बंगला अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी आदि उन्नत साहित्यों की समता कर सके।

आज लगभग पचास वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में यह कहा जाता था कि वह रंक है। उसमें सब विषयों के ग्रन्थों का अभाव है। भाषा में भावों को प्रकट करने की क्षमता नहीं है, और न पारिभाषिक शब्दों को प्रकट करने के साधन ही हैं। उस समय हिन्दी साहित्य परमुखापेक्षी था। उसे अपने उदर को भरने के लिये, अपना मनोरंजन करने के लिये अन्य भाषा के साहित्यों पर एवं अनुवाद ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। किन्तु आज हिन्दी साहित्य बाल्यावस्था को छोड़ अपने पैरों पर खड़ा हो गया है और स्वतंत्र तथा मौलिक रूप से उन्नति कर रहा है। पहिले केवल पद्य या काव्य साहित्य ही इस कोटि का था कि जिसे हम दूसरों के समक्ष रख सकते थे। गद्य साहित्य का तो प्रायः पूरा पूरा अभाव ही था।

भारतेन्दु बाबू के प्रथम हिन्दी गद्य में यद्यपि कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे गये किन्तु हिन्दी गद्य को वह रूप प्राप्त न हो सका जो भारतेंदु बाबू ने उसे दिया. तथा उनके पश्चात उसे प्राप्त हुआ। इनके पश्चात् इनको उत्तेजना देने पर कई लेखक पैदा हुए और उन्होंने अपनी अपनी शैली में निबन्ध, नाटक आदि लिखे किन्तु उनमें वह प्रौढ़ता एवं सरसता नहीं आ सकी जो पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी के समय में प्राप्त हुई।

द्विवेदीजी ने जिस समय 'सरस्वती' का सम्पादन भार अपने ऊपर लिया उस समय विद्वानों की यह दशा थी कि वे हिन्दी में लिखना एक तुच्छ अकरणीय कार्य समझते थे। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन पर कई लेखक यह कहते हुए हिन्दी साहित्य में लिखने लगे कि हमें तो हिन्दी आती ही नहीं। ये लेखक जब लिखते तो अपने अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत आदि के ज्ञान को प्रकट करते थे। किन्तु अब वह समय आ गया है कि हिन्दी में लिखना एक गौरव की बात समझी जाने लगी है। फलतः कई लेखक और कवि इस ओर एक बड़ी संख्या में जुट गये हैं।

भाषा भी आज इतनी प्रौढ़ हो गई है कि उच्च से उच्च गंभीर से गंभीर और प्रायः सब विषयों के भावों को प्रकट करने में समर्थ है। द्विवेदीजी के समय में लोग यह सोचते थे कि हिन्दी या खड़ी बोली में कविता लिखी ही नहीं जा सकती। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने अपने काव्य द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी में न केवल काव्य रचना ही की जा सकती है वरन् सरस उच्च कोटि के भाव भी व्यक्त किये जा सकते हैं। पन्तजी ने अपनी रचनाओं द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि सुन्दर, सरस, मधुर कोमल शब्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। श्री जयशंकरप्रसादजी ने अपनी अमर रचनाओं द्वारा

भली भाँति यह प्रमाणित कर दिया है कि हिन्दी में अमर उच्च कोटि की विश्व साहित्य में स्थान पाने योग्य रचनाएँ लिखी जा सकती हैं। अब हिन्दी साहित्य रंक नहीं है। भाषा स्वावलम्बिनी हो गई है। लेखक एक सीमा तक सतर्क हो मौलिक रचनाएँ करने लगे हैं।

एक समय था जब भारतेन्दु बाबू ने नाटकों की ओर तथा उनके समकालीन लेखकों ने निबन्ध की ओर विशेष ध्यान दिया था। यदि जिस उत्साह के साथ भारतेन्दुजी ने नाटकों का श्रीगणेश किया था वही उत्साह चलता रहता तो हिन्दी नाट्य साहित्य भी आज इतना अप्रकृत एवं कम न रहा होता। निबन्ध साहित्य अवश्य शनैः शनैः प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया है किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि अभी सब विषयों पर उच्च कोटि के निबन्ध प्रायः दो एक लेखकों को छोड़ कर प्राप्त नहीं होते। नाटकों के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू के पश्चात् प्रसादजी के प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। किन्तु रंगमंच के अभाव ने प्रसादजी के नाटकों को ही अव्यापक नहीं बनाया किन्तु हिन्दी नाट्य साहित्य को भी पनपने नहीं दिया।

इसी प्रकार से प्रेमचन्दजी के पूर्व हमारा उपन्यास एवं कहानी साहित्य भी प्रायः नहीं के बराबर था। प्रेमचन्दजी ने साहित्य के इस अंग की प्रचुर मात्रा में वृद्धि की। किन्तु आज भी उपन्यास और कहानी साहित्य में इतने उच्च कोटि की रचनाएँ प्राप्त नहीं हो रही हैं जो विश्व साहित्य में अपना अमर स्थान बना सकें। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी में ऐसे प्रतिभाशाली लेखक पैदा हों जो जीवन को निकट से देख सकें, जिनकी अनुभूति इतनी गहरी हो कि उनमें सार्वजनीन विश्व की भावनाएँ समा सकें ताकि वे अमर मौलिक उपन्यास एवं कहानी साहित्य हिन्दी को दे सकें।

पं. रामचन्द्र शुक्ल के पहिले समालोचना के क्षेत्र में पं. महा-

वीरप्रसादजी द्विवेदी, पं. पद्मसिंहजी शर्मा तथा मिश्र बन्धुओं के प्रयत्न सराहनीय रहे हैं। शुक्लजी ने सबसे पहिले पाश्चात्य ढंग पर गम्भीर विशद् आलोचनाएँ लिखीं जिनमें उच्च कोटि की साहित्यिक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। व्यक्तिगत गाली गलौज वाली समालोचनाएँ अब नहीं लिखी जातीं।

कविता में क्या भाषा और क्या भावों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य परिमाण में संसार के सब साहित्यों से काफी अधिक लिखा जा रहा है। प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में श्रेष्ठ एवं विश्व साहित्य में स्थान पाने योग्य कामायनी सदृश महाकाव्य भी रचा जा चुका है।

अब विचारणीय विषय है कि इतनी उन्नति, यह साहित्य विकास पूर्ण और उज्वल कहा जा सकता है क्या ? वास्तव में इतना सब होते हुए भी अभी हिन्दी साहित्य को और प्रौढ़ बनाने की आवश्यकता है।

भाषा में अभी इतनी प्रौढ़ता नहीं आई है कि उसके द्वारा हम अपने भावों को पूर्णतया एवं इतिहास, भूगोल, विज्ञान, दर्शन आदि विषयों के शब्दों को समीचीन और समुचित ढंग से प्रकट कर सकें। हमें अभी जैसे पारिभाषिक शब्दों की रचना करना है जो समान रूप से समस्त भारतवर्ष में समझे जा सकें। वे सरल और सुबोध भी हों। यथार्थ अर्थ दे सकें। सर्व मान्य हो सकें। अब यदि संस्कृत भाषा का उपयोग किया जा सके तो प्रायः समस्त भारतवर्ष में उनका प्रचलन हो सकता है क्योंकि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के गठन में संस्कृत का बड़ा हाथ रहा है। अरबी फारसी भाषा में यद्यपि व्यावहारिक और कानून सम्बन्धी शब्द मिलते हैं और वे जनता में प्रचलित भी हो गये हैं, तथापि उनका व्यापक प्रयोग न तो उपयोगी ही है और न लाभदायक ही। संस्कृति की भिन्नता होने के कारण उनके शब्दों को अपनाना और साधारण जन समुदाय में उनका प्रचार करना कठिन

होगा। भाषा प्रगतिशील और प्रौढ़ बनी रहे इसलिये यह आवश्यक है कि उसमें प्रायः सब भाषाओं के प्रचलित शब्दों का उपयोग सुविधानुसार हो। हमें पूर्णतया वर्तमान परिस्थिति में संस्कृत या फारसी पर निर्भर नहीं रहना है। इनमें हमारी आवश्यकता के अनुसार जितने साधारण या पारिभाषिक शब्द हमारे उपयोग में आयेंगे वे ही हम ग्रहण करेंगे। हमें तो अन्य ग्राम्य शब्दों की भी आवश्यकता है क्योंकि इनके बिना हमारा साहित्य प्रौढ़ और भावों को व्यंजित करने वाला नहीं हो सकता। अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में उपयोग में आते रहते हैं। इनमें से प्रचलित शब्दों का अब बहिष्कार नहीं किया जा सकता। कहने का आशय यह है कि भाषा को प्रौढ़ बनाने के लिये सब प्रकार के उपयुक्त शब्दों का प्रयोग उचित है।

अब वह समय नहीं रहा जब एक देश के साहित्य का प्रभाव दूसरे पर बहुत देर में पड़ता था। आज तो फ्रेंच भाषा में एक उपन्यास निकलता है तो संसार की प्रायः सब भाषाओं में उसकी समालोचना और अनुवाद का श्रीगणेश हो जाता है। अंग्रेजी साहित्य में राजनीति पर एक नवीन ग्रन्थ निकलता है और सब भाषा भाषी उसे पढ़ने के लिये उत्सुक हो जाते हैं। जापानी भाषा में कोई सुन्दर रचना प्रकाशित होते ही उसके अनुवाद का आयोजन विदेशों में प्रारम्भ हो जाता है। साहित्य में इसी प्रकार समन्वय और आदान-प्रदान होता रहता है। हिन्दी भाषा भी इन विचारों, विश्व व्यापक संघर्षों एवं मनोभावनाओं से परिचित हो सके, लाभ उठा सके, उन्हें आत्म सात कर सके इसके लिये उपयुक्त शब्दावली का निर्माण होना भी जरूरी है।

हमारा उपयुक्त विचार हमें एक योजना की ओर ले जाता है। वह यह है कि हम चाहें या न चाहें और चाहे लोग साम्प्रदायिक दृष्टि से

कितना ही विरोध क्यों न करें हमें एक व्यापक भारतीय राष्ट्र भाषा का निर्माण करना ही होगा जिसमें सब प्रान्तों के शब्दों एवं भावों को स्थान मिल सके। पहिले यह कार्य संस्कृत के द्वारा प्रायः हुआ करता था। आज अंग्रेजी के द्वारा भी यह कार्य सम्पन्न हो रहा है किन्तु इन भाषाओं से अब हमारा कार्य नहीं निकल सकता। इनका स्थान किसी न किसी व्यापक और प्रचलित सर्व मान्य भाषा को ही ग्रहण करना पड़ता है। हमारी दृष्टि से हिन्दी ने ही अब तक यह कार्य किया है और भविष्य में वह अपना कर्तव्य पालन नहीं छोड़ेगी।

अब तक हिन्दी साहित्य में काव्य, आलोचना, कहानी, उपन्यास निबन्ध आदि, शुद्ध साहित्य जिनकी गणना ललित कलाओं में की जाती है, के ग्रन्थ निकले हैं किन्तु साहित्य या वांग्मय की सम्पन्नता की दृष्टि से ये इसके केवल एक भाग ही हैं। साहित्य अथवा वाङ्मय पूर्ण कहा जा सके इसलिये उसमें नवीन नवीन खोज सम्बन्धी ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान आदि के भी उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण होना आवश्यक है। बिना इनके हिन्दी साहित्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता और न मानव जीवन की सब आवश्यकताओं की इस ज्ञान राशि के बिना पूर्ति हो सकती है।

हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि के लिये यह भी आवश्यक है कि हमारे लेखक अधिक सावधान होकर लिखा करें। द्विवेदीजी के समय में यही भी हालत थी कि लेखक शब्दों के मनमाने रूपों का व्यवहार करते थे। प्रायः वे व्याकरण के नियमों की भी अवहेलना किया करते थे। आज भी हम देखते हैं कि यद्यपि लेखकों की संख्या अवश्य बढ़ गई है किन्तु उनके लेखन में भाषा की वह, चुस्ती वह गठन, वे शुद्ध रूप प्राप्त नहीं होते जो किसी भी साहित्य के लिए आवश्यक है।

इस समय हिन्दी साहित्य की एक यह भी बड़ी आवश्यकता है कि

इसमें कम मूल्य के साधारण जनोपयोगी ग्रन्थों का भी निर्माण हो जो उनमें फैलकर उनमें नये नये भावों को भर सकें, और प्रौढ़ लोगों को शिक्षा दे सकें। हमें अब इस बात का भी ध्यान रखना है कि ग्रन्थ लेखकों को पर्याप्त पुरस्कार या पारिश्रमिक भी मिल सके ताकि वे अपनी जीविका चलाते हुए निश्चिन्तता से साहित्य की आराधना में लगे रहें और पुष्ट और अमर साहित्य को जन्म दें।

लिपि सुधार के सम्बन्ध में भी ध्यान देना आवश्यक हो गया है। लिपि के सम्बन्ध में आजकल कई प्रकार के विवाद चल रहे हैं। यहाँ तक कि रोमन लिपि तक का समर्थन किया जाता है। भारत की अधिकांश जनता देव नागरी अथवा उसमें थोड़ी परिवर्तित लिपि का प्रयोग करती है। रोमन लिपि तो भारतीय संस्कृति के लिये घातक सिद्ध होगी। छपाई सम्बन्धी कई सुविधायें यद्यपि इसके अपनाने से हमें प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु धीरे धीरे वे हिन्दी लिपि के द्वारा भी प्राप्त हो सकती हैं। रोमन लिपि का भारत में प्रश्न उठाना, देव नागरी जैसी परिमार्जित सुन्दर लिपि के होते हुए भी, अनुचित है। अब फारसी लिपि पर विचार करना तो व्यर्थ ही है। कोरा पिष्ट पेषण मात्र होगा। इस लिपि में दोष इतने अधिक हैं कि कभी वह भारत की राष्ट्रीय लिपि हो सकेगी इसमें संदेह है व्यापकता की दृष्टि से देव नागरी में अवश्य सुधार करने होंगे। जैसे अ वर्ण में विभिन्न मात्राओं को लगा कर अन्य स्वरों का काम चलाना। कतिपय ऋ ऌ आदि वर्णों को हटाने में भी हमें संकोच नहीं करना चाहिये। कई विद्वानों का मत है कि गुजराती के समान हिन्दी वर्णों में सिरोरेखा नहीं लगाना चाहिये।

साहित्य की उन्नति के लिये जनरुचि का जाग्रत करना अनिवार्य है। यदि जनता ग्रंथों को नहीं पढ़ेगी तो साहित्य कभी पनप कर

स्थायी नहीं हो सकता। अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय, गुजराती, बंगला, मराठी भाषा भाषियों में साहित्य एवं पढ़ने की इतनी रुचि उत्पन्न हो गई है कि हजारों की संख्या में ग्रंथ छप कर बिक जाते हैं। समाचार पत्र लाखों की संख्या में छपते हैं। पर हिंदी में अभी इस दिशा में बहुत प्रयत्न करने की जरूरत है।

भारतवर्ष में केवल आठ या दश प्रति सैकड़ा व्यक्ति ही साक्षर हैं। अधिकांश जनता भी शिक्षित तो क्या साक्षर भी नहीं है। ऐसी अवस्था में हमें अपने देश को शिक्षित और साक्षर बनाना है। ऐसा साहित्य तैयार करना है जो ग्राम्य एवं प्रौढ़ लोगों के काम में आ सके। यह कार्य भी हिन्दी ही को करना होगा।

अन्त में ऐसी सर्व प्रान्तीय पारिभाषिक तथा ग्राम्य शब्दों का निर्माण भी हिन्दी में होना चाहिये ताकि सब भाषाओं के विचार हिंदी में भली भाँति व्यक्त किये जा सकें। हिंदी अब केवल इने-गिने व्यक्तियों की ही भाषा नहीं रही है। कोई माने चाहे न माने अथवा साम्प्रदायिक तथा अन्य दृष्टियों से इसका विरोध करे, हिंदी तो अपना मार्ग प्रशस्त करती ही जायगी, क्योंकि इसका विकास स्वाभाविक और जन समूह की आवश्यकता पर निर्भर है।

समय सहसा अपनी मातृ भाषा में ही अपने विचार अथवा उद्गार प्रकट करेगा एक समय का कथन है कि 'एक जासूस को एक व्यक्ति की जाति और भाषा का पता नहीं चलता था वह अपने गुरुदेव के पास पहुँचा और उनके समक्ष अपनी कठिनाई उपस्थित की। गुरुदेव ने उसे सलाह दी कि जब वह व्यक्ति रात्रि के समय घर लौटता हो तब उसे अचानक पीठ में एक घूंसा मार देना। जासूस ने ऐसा ही किया। जब उस व्यक्ति पर एकाएक घूंसे का आघात हुआ तब उसने अपने भाव सहसा अपनी मातृभाषा में ही प्रकट किये फलतः जासूस को उसकी मातृभाषा का पता लगगया। वास्तव में मातृभाषा के साथ हमारे आत्म रक्षा के भाव लगे हुए हैं', इसीलिये, जिस समय हमारी आत्मा को कष्ट होता है या विशेष हर्षोल्लास होता है तब हम मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं।

अब तक हमने मातृभाषा और उसके महत्व का विवेचन किया है। राष्ट्रभाषा के महत्व को प्रकट करने के लिये यह आवश्यक था क्योंकि मातृभाषा की महत्ता को समझे बिना राष्ट्रभाषा के गौरव को हृदयंगम कर लेना कठिन है। जैसे अपने भावों को स्पष्ट और सरल साधन से व्यक्त करने के लिये मातृभाषा होती है उसी प्रकार हमारी राष्ट्रीय भावनाओं, आकांक्षाओं तथा उद्गारों को प्रकट करने के लिये राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त अन्य कोई साधन हमें दिखाई नहीं देता।

आज यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत सदा से समय और इतिहास की विचित्र घटनाओं के आघातों को सहते हुए भी शिक्षा, संस्कृति, धार्मिक भावना, आचार विचार आदि की दृष्टि से एक राष्ट्र रहा है और भविष्य में भी उसकी राष्ट्रीयता पर कितने भी आक्रमण क्यों न हों उसे एक राष्ट्र या एक महाराष्ट्र ही रहना है। अतः कितने ही विवादों एवं विरोधों के होते हुए भी उसे एक

राष्ट्रभाषाकी अनिवार्य आवश्यकता सदा बनी रही है और बनी रहेगी।

प्राचीन काल से वैदिक भाषा तथा संस्कृत और बाद में हिन्दी ने इस स्थान को सुशोभित किया है। अब आज हमारे सामने वही प्रश्न फिर उपस्थित हुआ है। हमें विचार करना है कि समस्त भारत की राष्ट्रभाषा कौन सी और कैसी होना चाहिये; उसका स्वरूप क्या हो।

राष्ट्रभाषा के लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसी हो कि देश के अधिकांश निवासियों के काम में आती हो अथवा आ सकती हो, जो प्राचीन काल से प्रचलित हो अथवा जिसमें साहित्य लिखा जा सके, अथवा अन्य आवश्यक राष्ट्रीय कार्य किये जा सकें। उसका सरल, सुबोध और व्यापक होना भी आवश्यक है। यदि किसी देश के विभिन्न भू भागों में विभिन्न भाषाएँ एवं बोलियें प्रचलित हों तो राष्ट्रभाषा का स्थान ऐसी ही भाषा ग्रहण कर सकती है जिसमें उन सब भाषाओं और बोलियों के शब्द, मूल धातुएँ अथवा लिपि आदि की बनावट या रूपों की एकता हो। ऐसी भाषा वही हो सकती है जिसमें समस्त राष्ट्र की आकांक्षायें एवं भावनाएँ अथवा संस्कृति जन्य आचार, विचार, शिष्टाचार आदि पाये जावें अथवा इनके व्यक्त करने के साधन प्राप्त हों।

अब हमको यह देखना जरूरी है कि हिन्दी भाषा इन आवश्यकताओं की पूर्ति कहाँ तक करती आई है, वर्तमान में कर रही है, तथा भविष्य में भी उसमें इतनी सामर्थ्य है अथवा नहीं कि वह सम्पन्न होकर राष्ट्रभाषा का आसन सुशोभित कर ले। भाषा के साथ स्वभावतः लिपि का प्रश्न भी लगा रहता है। इसलिये भाषा और संस्कृति अथवा परम्परा की दृष्टि से हम लिपि की अवहेलना नहीं कर सकते।

कतिपय विद्वान हिन्दी अथवा हिन्दुस्थानी को तो राष्ट्रभाषा मानने के लिये तैयार हैं किन्तु लिपि के स्थान पर वे उर्दू अथवा रोमन लिपि को भी स्थान देने की आवाज उठाते हैं।

अब हिन्दी भाषा एवं लिपि पर विचार कीजिये। हिन्दी भाषा अब पर्याप्त उन्नत और पुष्ट हो गई है। यह प्रायः सारे भारतवर्ष में समझी और साधारण व्यवहार के कार्यों में उपयोग में आती है। भारत की प्रायः चालीस करोड़ आबादी में से लगभग पच्चीस करोड़ मनुष्य इसका न्यूनाधिक उपयोग करते या कर सकते हैं। यह बात भारत के उन प्रान्तों में भी है, जिनकी भाषाओं का सम्बन्ध संस्कृत से नहीं है। यहाँ हमें इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि भारतवर्ष की अधिकांश भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और वे देव नागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं। दक्षिण भारत की भाषाएँ अवश्य संस्कृत कुल में न आकर द्रविड़ कुल में आती हैं। किन्तु आज हजारों वर्षों से उत्तर और दक्षिण भारत में धर्म, आचार, विचार संस्कृति आदि की एकता रही है। परिणाम स्वरूप उत्तर दक्षिण की भाषाओं के विभिन्न कुलों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है और शब्दों का आदान प्रदान होता रहा है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि संस्कृत भाषा का प्रभाव आद्यकाल से तामिल भाषाओं पर पड़ा है और उनमें संस्कृत भाषा के प्रचुर शब्द पाये जाते हैं। हमारे इतने विवेचन का आशय यह है कि, कोई राष्ट्र भाषा हो सकती है तो वह वही भाषा हो सकती है जिसका सम्बन्ध संस्कृत तथा देव नागरी लिपि से रहा है। इस प्रकार की योग्यता हिन्दी में पूर्ण रूप से पाई जाती है।

हिन्दी भाषा की लिपि न केवल सुन्दर ही है किन्तु सरल और सुबोध भी है। शब्दों की गठन एवं उच्चारण इस प्रकार का है कि जिस में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। वर्णों का उच्चारण बोलने

और लिखने की समानता रखता है। अन्य भाषाओं में लिपि और उच्चारण में बहुत अन्तर पाया जाता है। वर्णों के उच्चारण कुछ और होते हैं, बोले किसी दूसरे प्रकार से जाते हैं, और लिखने और समझने में भी कठिनाई होती है। इसीप्रकार इन्हीं वर्णों के आधार पर रचे हुए शब्द भी हिन्दी भाषा के अन्दर उच्चारण, लिखावट और पढ़ाई में एकता रखते हैं। अन्य संस्कृत से भिन्न कुल वाली भाषाओं में प्रायः यह बात नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिये उर्दू तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्द लिये जा सकते हैं। इनमें बोलने और लिखने में काफी अन्तर पाया जाता है। उर्दू में यदि कमल शब्द लिखा जावे तो उसे किमिल, कमिल, कुमिल आदि हम पढ़ सकते हैं। इसीप्रकार अंग्रेजी में भी कमल, कामल, कमला, कामला आदि कई प्रकार से पढ़ सकते हैं।

लिपि की दृष्टि से भी अरबी या फारसी की लिपि में कई प्रकार के दोष पाये जाते हैं। इन में अक्षर इतने कम हैं कि हिन्दी भाषा जो संस्कृत की पुत्री है और जिसमें प्राचीन साहित्य पाया जाता है उसके भावों को व्यक्त करने वाले शब्दों के लिये पर्याप्त वर्ण नहीं हैं। जो हैं उनसे भी ठीक ठीक उच्चारण नहीं किया जा सकता। उर्दू की लिपि तथा उसको लिखने की शैली भी इतनी कठिन और दुरूह है कि उसे लिखना और कहीं इससे बहुत अधिक उसका पढ़ना कठिन, पेचीदा तथा परिश्रम और अनुभव साध्य है। यही बात अंग्रेजी लिपि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है किन्तु इसमें भी अनेक कठिनाइयां हैं।

कई विद्वान रोमन लिपि में कई सुधार कर इसे अपनाने की सम्मति देते हैं, और वे संसार के विभिन्न जैसे टर्की आदि देशों के उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रोमन लिपि की अन्य

देशों ने अपनाया है और उसे अपना कर सफलता प्राप्त की है तथा उससे होने वाले लाभ उठाये हैं। पर यदि हम ध्यान से विचार करें तो रोमन लिपि को ऐसे ही देशों ने अपनाया है जिनकी लिपि या तो रही ही नहीं या रही तो अल्पकाल से और कठिन रही। साथ ही जिनकी भाषाएँ केवल बोली के रूपमें प्रचलित रहीं और जिन में प्रायः कोई प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता रहा।

अब हिंदी की परंपरा पर विचार कीजिये। हिंदी के साथ संस्कृत और प्राकृत तथा भारतीय साहित्य का हजारों वर्षों का सम्बन्ध तथा परम्परा रही है। हिंदी संस्कृत तथा प्राकृत की पुत्री होने के कारण इन भाषाओं के समस्त साहित्य एवं ज्ञान की अधिकारिणी रही है। फिर संस्कृत से मराठी, गुजराती, बंगला आदि उत्तर भारत की कई भाषाओं का जन्म हुआ है। संस्कृत जन्य ये भाषाएँ भारतवर्ष के तीन चौथाई से अधिक भाग की भाषाएँ हैं और प्रायः देव नागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं। इन के वर्ण हिंदी वर्णों से मिलते-जुलते हैं और शब्दों में भी बहुत अधिक भेद नहीं पाया जाता है। अब यदि रोमन लिपि का उपयोग किया जावे तो हिंदी का सम्बंध धीरे धीरे समस्त प्राचीन साहित्य एवं ज्ञान राशि से छूट जायगा तथा भारतीय अन्य भाषाओं से भी उसका सम्पर्क नष्ट हो जायगा। अतः रोमन लिपि भी न केवल हिंदीके लिये बल्कि अन्य भारतीय भाषाओंके लिये अप्रयोगनीय है। तामिल आदि भाषाओं की लिपि में यद्यपि काफी अन्तर पाया जाता है किंतु हजारों वर्षों से उत्तर तथा दक्षिण भारत में संस्कृति, धर्म, यातायात आदि कई प्रकार से सम्बन्ध रहा है, इसलिए द्रविड़ कुल की भाषाओं में भी संस्कृत के शब्द बहुतायत से पाये जाते हैं। धार्मिक कथाओं में भी प्रायः वे ही हैं और इन भाषाओं का प्रभाव भी उत्तर की भारतीय भाषाओं पर एक सीमा तक

पड़ा है। अतः समस्त भारत के लिए यदि कोई भाषा उपयुक्त हो सकती है तो वह हिंदी अथवा उसका आधुनिक प्रचलित रूप हिंदुस्थानी ही, और लिपि देवनागरी।

यहाँ एक बात और विचारणीय है वह यह कि मुसलमान लोग कतिपय कारणों से हिंदी तथा देवनागरी लिपि का विरोध करते रहे हैं। वे सोचते हैं कि यदि हिंदी और देवनागरी लिपि का प्रचलन हो जायगा तो उनकी भाषा जिसे उर्दू बताते हैं नष्ट हो जायगी और उनकी इस्लामी संस्कृति पर और धार्मिक भावनाओं पर ठेस पहुँचेगी। पर वास्तव में उनकी इस प्रकार की आशंका निर्मूल और व्यर्थ है। मुसलमानों के समान कई प्रान्तों के निवासी भी यह सोचते हैं कि यदि हिंदी अथवा हिंदुस्थानी को राष्ट्र भाषा स्वीकार कर लिया जायगा तो उनकी प्रांतीय भाषाओं और साहित्य को आघात पहुँचेगा परन्तु इस प्रकार की शंकाएँ करना व्यर्थ है, क्योंकि भारतवर्ष एक महा देश है और इस के विभिन्न प्रान्तों में काफी दूरी होने के कारण भाषाएँ और बोलियाँ तथा उन में लिखा जाने वाला साहित्य अवश्य जीवित रहेगा। हिंदी अन्य भाषाओं को दबा कर राष्ट्रीय भाषा का पद ग्रहण करना नहीं चाहती किन्तु वह तो भारतीय राष्ट्र की एकता, सम्पन्नता, विकास, राष्ट्रीयता आदि में अपना योग देना चाहती है ताकि भारत राष्ट्र फूले, फले और पनपे।

प्रारंभ से ही समस्त भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता रही। पहिले इसकी पूर्ति वेद काल की साहित्यिक वैदिक भाषा करती रही। इसके पश्चात् संस्कृत ने यह स्थान सुशोभित किया। बाद में विभिन्न प्राकृत भाषाओं का एक रूप इसकी पूर्ति करता रहा। और आज लगभग एक हजार वर्ष से आवश्यकताओं, परिस्थितियों एवं हिंदी की कई प्रकार की सुविधाओं ने अपने

आप उसे भारत में प्रचलित और व्यवहृत करवा दिया है अर्थात् उसके गुणों ने उसे अपने आप राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन कर दिया है।

अब तक हमने हिंदी भाषा की विशेषताओं पर ही प्रकाश डाला है पर कई ऐसी अन्य अनिवार्य बातें भी हैं जिनके कारण उसे राष्ट्र भाषा होना ही चाहिए और अनेकों विरोधों के होते हुए भी उसका प्रचलन बढ़ता गया और लोग इसकी ओर झुकते गये हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जब जब जो जो राष्ट्रीय तथा धार्मिक आन्दोलन हुए वे सब प्रचलित हिंदी के द्वारा ही सफल हो सके। अंग्रेजी द्वारा जो आन्दोलन हुआ वह सीमित और संकुचित रहा। संस्कृत द्वारा भी जो पहिले धार्मिक आंदोलन हुए वे अपना एक स्थान तो बना सके किंतु वे न तो पनप सके और न व्यापक हो सके।

शंकराचार्यजी, मध्वाचार्यजी, रामानुजाचार्यजी, रामानन्दजी आदि ने संस्कृत को अपना कर जो भाव धाराएँ प्रचलित की वे एक ओर पड़ी रहीं किंतु सर्व प्रचलित हिंदी भाषा का उपयोग कर कबीरदास, गोस्वामी, तुलसीदासजी, ईसाई पादरी, स्वामी दयानन्दजी सरस्वती, राजा राम मोहनराय आदि अपने आन्दोलन में सफल हुए और जब से कांग्रेस ने भी हिंदी तथा अन्य देशी भाषाओं को अपनाया है तब से उसे अतुलनीय सफलता प्राप्त हुई है, और वह सारे देश में व्यापक हो गई है। अतः राष्ट्रीय एकता के आन्दोलनों के लिए भी हिंदी की महती आवश्यकता स्वीकार की गई है।

हिंदी अधिक काल तक प्रचलित रही है और अपनी निजी विशेषताओं के कारण मुस्लिम काल में भी जीवित रही और खूब फूली, फली और पनपी है। इसके बाद भी उस पर अंग्रेजी के शासन काल में कई आघात होते रहे और आज भी इस के मार्ग में कई

रोड़े विभिन्न ओरों से अटकाये जा रहे हैं। फिर भी हिंदी अपना मार्ग प्रशस्त, स्वच्छ, सबल बनाती जा रही है। कई विद्वान यह सोचते हैं कि हिंदी में अभी प्रचुर साहित्य तथा वैज्ञानिक और अन्य प्रकार के शब्दों का अभाव है जिस से भावों के प्रकट करने और सब प्रकार के ग्रन्थों के निर्माण करने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं; यह कहना अब उचित प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी किसी भी अन्य भाषा का स्थान ग्रहण करना नहीं चाहती उसका उद्देश्य तो यही है कि वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति जैसे अंग्रेजी करती रही है वैसे ही पूर्णता सुविधा, सरसता तथा व्यापकता से वह करे।

दूसरा प्रश्न जो हिंदी के साथ उठाया जा रहा है वह यह है कि राष्ट्र भाषा हिंदी हो अथवा हिंदुस्तानी। वैसे तो हिंदी वास्तव में हिंदुस्थानी ही है और उर्दू और हिन्दी में केवल लिपि का भेद है, किंतु संस्कृत और अरबी, फारसी के विद्वान अपने दुराग्रह से भाषा को जटिल बनाकर इसमें एक खाई सी पैदा कर रहे हैं। सर्व साधारण जनता, फिर चाहे उसमें हिंदू हों अथवा मुसलमान हों अथवा अन्य कोई, तो ऐसी ही भाषा बोलनीहै जिसे वे सब आपस में समझ सकते हैं और जिसमें अरबी, फारसी, संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं होता परन्तु अरबी फारसी के विद्वान और आज कल के उर्दू लेखक उर्दू को अरबी, फारसी शब्दों से बोझिल बना रहे हैं। इसी प्रकार कतिपय संस्कृतज्ञ विद्वान संस्कृत शब्दों के प्रचलन के द्वारा हिंदी को जीवित रखने का प्रयत्न करने में हिन्दी को संस्कृत शब्दों और व्याकरण के नियमों से जकड़ देना चाहते है। पर ये दोनों बातें अब सम्भव नहीं। यदि भारत को एक राष्ट्र होना है तो उसकी राष्ट्र भाषा भी इसी प्रकार की होगी जिसमें न केवल हिंदी या उर्दू के ही शब्द

होंगे, किन्तु विचारों के आदान प्रदान के योग्य अन्य प्रांतीय भाषाओं के शब्द भी अपना स्थान पायें। इसी समय अधिकांश अंग्रेजी के वैज्ञानिक शब्द तथा प्रतिदिन व्यवहार में आने योग्य ग्राम्य शब्द भी राष्ट्रभाषा में सम्मिलित करना अनिवार्य होगा।

अब सवाल साहित्य वृद्धि का रहा। हिन्दी में प्राचीन काव्य तो आवश्यकता से बहुत अधिक पाया जाता है, आधुनिक साहित्य भी आज काफी प्रत्येक दृष्टि से बढ़ गया है और बढ रहा है। वैज्ञानिक तथा अन्य विषयों के ग्रन्थ भी हिन्दी में पढ़ाई का माध्यम हिन्दी के न होते हुए भी, काफी निकल गये हैं। वैज्ञानिक तथा अन्य उच्च कोटि के ग्रन्थों के यथोचित निर्माण न होने का कारण वही शिक्षा का माध्यम ही है। जिसने इसके मार्ग में रोडे अटकाये हैं और जब तक यह बना रहेगा तब तक इसकी बहुमुखी उन्नति में बाधाएँ आती रहेंगी। पर बाधाओं के होते हुए भी हिन्दी साहित्य आज भारतीय तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के साहित्य से किसी भी प्रकार कम उन्नत नहीं है, बल्कि उसकी विशेषताएँ उसे सर्वतोमुखी प्रगति की ओर अवश्य ले जायेंगी। अतः हिन्दी ही एक मात्र भारत की राष्ट्रभाषा होने योग्य है।

कविता और उसका मानव जीवन से सम्बन्ध

यद्यपि काव्य की ठीक ठीक परिभाषा देना बड़ा कठिन है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है और इसका सम्बन्ध कल्पना, हृदय, मस्तिष्क आदि से रहता है, जिनकी अनुभूतियों को साकार रूप देना कठिन होता है; तथापि कई विद्वानों एवं आलोचकों ने इसके स्वरूप को शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार कविता वह अलौकिक आनंद है जो हृदय को वशीभूत कर लेता है अथवा रस का संचार कर सकता है। इसी आधार पर कई विद्वान रसयुक्त वाक्य को ही कविता कहते हैं। कोई विद्वान रमणीय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को कविता मानते हैं, तो कोई रस, ध्वनि, अलंकार आदि से युक्त रचना को। कई आचार्यों ने तो सुन्दर शब्द और अलंकारों वाली रचनाओं को ही कविता मान लिया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इसका विवेचन किसी दूसरे रूप से किया है। वे कविता को जीवन की आलोचना मानते हैं। एक स्थान पर कविवर रवीन्द्रनाथजी ने कविता के सम्बन्ध में लिखा है कि इसका हमारे जीवन से अविच्छेद सम्बन्ध होता है और यह हमारे मनोभावों तथा अनुभूतियों के साथ नाचती है। कई विद्वानों ने मानव जीवन की व्यापक अनुभूतियों को ही कविता माना है।

पंडित रामचंद्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदासजी की काव्य पद्धति का विवेचन करते समय कविता के उद्गम पर बड़े ही भावपूर्ण विचार

व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं—अपनी व्यक्तगत सत्ता की अलग भावना से हटा कर निज के योग क्षेम सम्बन्ध से मुक्त करके जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि हृदय है। हमारी सम्मति में यह परिभाषा व्यापक और सबका निचोड़ है।

अब हमें यह विचार करना है कि कविता का मानव जीवन से क्या और कितना सम्बन्ध होता है। इसके विश्लेषण के लिये हमें मानव की अन्तः प्रवृतियों का विश्लेषण करना चाहिये, क्योंकि कविता पर तत्कालीन समाज अथवा जन समूह की आशाओं, आकांक्षाओं एवं हृदयगत भावनाओं का प्रभाव पड़ता है और इसी प्रकार कविता, काव्य अथवा साहित्य का प्रभाव भी तत्कालीन समाज, जनसमूह अथवा देश पर पड़ता है। कभी कभी तो वह इतना अधिक और व्यापक होता है कि बड़े बड़े उलट फेर करने में, समाज रचना के नव निर्माण करने की ओर प्रेरित करने में, भविष्य में युगों युगों तक अनिर्वचनीय अथवा अलौकिक आनन्द देने में समर्थ होता है।

मानव में मूलतः कतिपय अन्त प्रवृत्तियें पाई जाती हैं। पहली प्रवृत्ति तो उसमें मनोरंजन की है। मानव जीवन के इतिहास के आरम्भ से ही यह तथा अन्य मूल प्रवृतियें पाई जाती हैं और पाई जायेंगी। जब मनुष्य काम अथवा परिश्रम से थक जाता है तो संभवतः वह मनोरंजन या विनोद की ओर झुकता है। इस प्रवृति को वह भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकट करता है। नाच कर, गा कर, कविता बना कर, खेल कूद कर अथवा अन्य किसी प्रकार से। अतः काव्य की प्रारम्भिक अवस्थाओं में प्रायः मनोरंजन की प्रवृति ही दिखाई देती है। और फलतः कई मनोरंजन प्रधान रचनाएँ लिखी जाती हैं। परन्तु ऐसी रचनाएँ साहित्य में व्यापक न होने के कारण अधिक समय तक

जीवित नहीं रहती। हाँ, इसका मनोरंजन का तत्व अवश्य ग्रहण किया जाता है और वह काव्य में स्थान पाता है। दूसरी प्रवृति शिक्षा एवं उपदेश की पाई जाती है। जब एक मनुष्य शिक्षण, कला आदि में कुछ उन्नति कर लेता है तब वह कविता, काव्य या साहित्य का उपयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये करने लगता है। इस प्रवृति के कारण काव्य में शिक्षा और उपदेश की बातें भी रंग जाती हैं। एक प्रवृति और इस प्रकार की रचनाओं को जन्म देती है। वह है वीर पूजा की। मनुष्यों में स्वभावतः वीरों या सत्कार्य करने वालों के प्रति आदर का भाव पाया जाता है। अतः जो समाज का नेतृत्व करते हैं, युद्धों में वीरता प्रदर्शित करते तथा उदारता पूर्वक दान आदि देते हैं या धर्म, न्याय, सत्य आदि के समर्थन में अपने प्राणों को होमते या कष्ट उठाते हैं, उनके प्रति श्रद्धा भावों का जाग्रत होना भी स्वाभाविक होता है। प्राचीन काल में लोग अपने पूर्वजों या पूर्वज बड़े लोगों को भी आदर और पूजा के भाव से देखते थे। अतः इसके प्रति भी सम्मान और श्रद्धा का भाव उठता रहा। परिणाम स्वरूप ऐसी रचनाएँ लिखी गईं जिन में इस प्रकार के वीरों के यश के कार्यों के वर्णन है, और इन्हीं के साथ नीति, ज्ञान, शिक्षा, राजनीति, रीति-व्यवहार आदि के उपदेश भी काव्य एवं कलात्मक रचनाओं में स्थान पाते रहे हैं। जैसे रहीम, कबीर आदि के दोहे तथा चंद बरदाई की वीर गाथाओं में पाये जाते हैं।

धीरे धीरे कवि या लेखक इतने सिद्ध हस्त हो जाते हैं कि वे अपने अन्तरस्थ भावों को सुविधापूर्वक भली भाँति प्रकट कर सकते हैं और अपनी अनुभूतियों को भी विशेष सजे हुए ढंग और स्वाभाविकता के साथ रख सकते हैं। तब सुन्दर सुन्दर काव्य कला की कृतियाँ प्रकट होती हैं। पर जब लेखक में कलापूर्णता आ जाती है तथा भाव अंत-

रचना की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तब वह प्रायः कभी कभी अपनी रचनाओं में विद्वता को भी प्रकट करने लगता है। तब विद्वता प्रधान रचनाएँ लिखी जाती हैं। इस समय भाषा और भाव और कला का स्वरूप प्रायः नियमों से जकड़ जाता है। इसलिये काव्य की सीमा निश्चित हो जाती है तथा उसकी प्रगति रुकने लगती है और कोई कोई लेखक कभी कभी काव्य एवं कला के इतने विकास से लाभ उठा कर अपनी कुत्सित मनोवृत्ति को भी इनमें स्थान दे देता है और तब साहित्य में ह्रास एवं पतन का काल शुरू होता है।

इन प्रवृत्तियों के विवरण से हमें पता लगता है कि तत्कालीन समाज का प्रभाव उस काल के साहित्य पर अवश्य पड़ता है। इसका आशय यह है कि मनुष्य जीवन के साथ कविता की गति एवं प्रगति अल्पाधिक होती रहती है।

अब हिन्दी कविता के विकास एवं परंपरा पर विचार कीजिये। वीर गाथा काल के समय कवि वीरता की ही कविताएँ किया करते थे, क्योंकि जन समूह में वीरता का भाव प्रचुर मात्रा में व्याप्त था। इसका परिणाम कभी कभी यह भी होता था कि वीरगण प्रायः अपनी वीरता के प्रदर्शन के लिये भी बिना कारण युद्ध कर बैठते थे और आपसी कलह को जन्म दे देते थे। पर जब तक उनमें यह वीर भाव बना रहा तब तक देश भी स्वाधीन बना रहा, पर जब पराजयता के आघातों को फूट के कारण सहते सहते जर्जर और पराधीन हो गये, तब कविता की दशा भी पलट गई। इस युग में हमने देखा कि आक्रांत भारत में मुसलमान लोग काफी संख्या में देश के अन्दर बस गये थे। वे शासक भी थे। ऐसी अवस्था में कविता का प्रभाव वीर, यश वर्णन से हट कर हिन्दू, मुस्लिम ऐक्य तथा सरस, धार्मिक, ईश्वर संबंधी प्रेम गाथाओं की ओर गया। इसके पश्चात् जो भक्ति का उदय हुआ उसके द्वारा

कटुता, नैराश्य, कलह आदि की भावनाओं का उन्मूलन हो सका और भारतवासियों अर्थात् हिन्दुओं के जीवन में जीवित रहने और बढ़ने की आकांक्षा पैदा हो गई । फलतः इसी प्रकार का काव्य सूर एवं तुलसी ने रचा जिसमें मंगलमय भक्ति के प्रचार द्वारा हिन्दू जीवन में सरसता, सद्साहस का प्रादुर्भाव हुआ ।

इसी प्रकार आर्य सभ्यता के उस प्रारम्भिक काल पर विचार कीजिये जिसे वैदिक काल कहते हैं । उस समय मनुष्य का ज्ञान बहुत कम और संकुचित था । उस समय उसे प्रकृति की प्रत्येक बात नवीनता और जिज्ञासा से भरी हुई दिखलाई देती थी । वह उषा को देख कर चकित हो जाता, प्रातःकालीन सूर्य को देख कर आनन्द से नाच उठता, आंधी तूफान और अग्नि से भयभीत हो उन्हें देवता मान बैठता था । उस समय भौतिक सुख प्राप्त करना दीर्घायु होना, युद्ध में विजय प्राप्त कर शत्रु को पराजित करना अपने सुख दुख में किसी शक्ति से सहायता करने की प्रार्थना करना, वह अपना कर्तव्य समझता था । उस समय वह प्रत्येक नवीन घटना या प्राकृतिक दशा को देख कर उसकी खोज का प्रयत्न करता था । इस प्रकार के कथन वेदों में पाये जाते हैं । इन से उस काल के आर्यों के रीति व्यवहार, विचार, आशाओं आदि का पता लगता है । इसलिये वेदों का बड़ा महत्व है, क्योंकि उनमें उस काल के समाज, धर्म आदि का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है ।

वेदकाल के पश्चात् जब हम रामायण काल में प्रवेश करते हैं तब हमें इनमें काफी अन्तर दिखाई देता है । जहाँ वेद काल में छोटे छोटे राजा पाये जाते थे, प्रजा को राज्य में बहुत अधिकार प्राप्त थे, और राजा केवल एक मुखिया या नेता ही के गौरव को प्राप्त था । वहाँ रामायण काल में बड़े बड़े राज्य संघटित हो गये थे और राजा

प्रायः स्वतंत्र और एक छत्र अधिकार का भोक्ता होनेलगा था। राज्यों के विकास एवं वृद्धि के कारण राज्य संबंधी ईर्षा, द्वेष, कलह, आदि भी प्रारम्भ हो गये थे। मानव का वह प्राकृतिक रहन सहन भी अब, नागरिक होने लगा था, फिर भी इतना अवश्य था कि राजा प्रजा की भावनाओं का ख्याल रखता और प्रायः उनकी सम्मति का आदर कर तदनुसार कार्य किया करता था। इस काल में भ्रातृ प्रेम, पातिव्रत, शरणागत रक्षा, न्याय का समर्थन आदि भी पाये जाते हैं और ब्राह्मणत्व पूज्य माना जाता रहा है। इस काल का परिचय वाल्मीकि रामायण से मिलता है।

अब महाभारत काल में आइये। इस ग्रन्थ को देखने से पता चलता है कि उस काल के आर्यों की वे स्वाभाविक प्रवृत्तिएँ और जिज्ञासाएँ अब नहीं रही थी। रामायण काल का वह उच्च कोटि का भ्रातृ प्रेम, राज्य त्याग, एवं प्रजा के अधिकारों के सम्मान आदि बातें नहीं रही थी। रामायण काल से महाभारत काल में प्रायः सब बातें विपरीत ही दिखाई देती है। इसमें राज्य के छोटे से टुकड़े के लिये भाई भाई लड़ते और विकराल रूप धारण करते हैं।

अब रीति काल और आधुनिक काल पर विचार कीजिये। मुगल काल में जब ऊपरी तौर पर सुख और शान्ति का राज रहा तो सम्भवतः विलासिता की ओर समाज का ध्यान खिंचा और राजा महाराजाओं को प्रसन्न करने के लिये कवियों ने श्रीकृष्ण का आश्रय ले शृंगारी कविता का ढेर लगा दिया।

आधुनिक काल में समस्त भारतवर्ष न केवल पराधीनता की बेड़ियों में ही जकड़ा रहा है किन्तु उसमें सुख शान्ति का आभास और दुःख, दीनता, करुणा ही मिलती रही है। अतएव भारतेन्दु बाबूसे अब तक जितना साहित्य मिलता है उसमें दुःख, दीनता, करुणा, विषाद

आदि की भावनाएँ ही मिलती हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी तथा पाश्चात्य साहित्य में भी मानव जीवन के साथ कविता का घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा है।

जीवन की उस अवस्था में जब अंगरेज लोग विदेशी समुद्री यात्राएँ करते थे और उन्हें कठिनाइयों का सामना कर विभिन्न नये नये देशों में अपनी जीवन-स्थिति कायम रखने के लिये लड़ना पड़ता था तब वे बड़े साहसी थे और उनके काव्य में भी इस साहस पूर्ण जीवन पथ पर आगे बढ़ने की अभिलाषा पाई जाती थी। पुनः जब उनका साम्राज्य बढ़ता गया तब उनमें वह साहस तो कम होता गया, किन्तु उसके स्थान पर साम्राज्य-रक्षा और विलासिता के भाव घर करते गये, अंग्रेजी भाषा के काव्य में इस प्रकार के भाव कई स्थानों में व्यक्त हुए हैं।

इस प्रकार इतने विवेचन द्वारा हमने देखा कि मानव जीवन अर्थात् विशिष्ट काल के जन समूह की भावनाओं का उस काल के साहित्य एवं काव्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब हमें देखना चाहिये कि वास्तव में काव्य या कविता का क्या स्वरूप है, तथा उसका मानव जीवन पर कितना और क्या प्रभाव पड़ा है।

कविता का उदय मानव हृदय से होता है। वह उसे एक अलौकिक धारा में प्रवाहित कर उसमें आनन्द का उद्रेक करती है। इसमें आनंद, अलौकिक आनन्द की ही प्रधानता रहती है। यह आनन्द विभिन्न रसों के परिपाक द्वारा प्राप्य होता है। इसलिये वीभत्स, रौद्र आदि रसों में भी आनन्द का उद्रेक होना माना जाता है।

जीवन में जब मनुष्य चारों तरफ संघर्ष पाता है तो वह कविता को ही गा कर या लिख कर अपने जीवन के भार को हलका कर लेता है। कविता के द्वारा ही मनुष्य में मानव के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती

एवं वह मानव समानता के भावों से युक्त होता है। सहानुभूति के अतिरिक्त कविता के अनुशीलन से व्यवहार-कुशलता भी बढ़ जाती है। कविता ही हममें आत्म गौरव और स्वाभिमान के भाव जागृत करती है। कविता के द्वारा भिन्न भिन्न कालों एवं देशों के चित्र भी हमारे सामने सजीव से अंकित हो जाते हैं।

कविता अथवा कवि की भावना का प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। हिंदी साहित्य का इतिहास हमें बताता है कि किस प्रकार ब्रज भाषा का स्थान खड़ी बोली लेती गई तथा खड़ी बोली में भी प्रारंभ में किस प्रकार के भाव व्यक्त किये जाते थे और धीरे धीरे अब इतना विकास हो गया है कि ऊँचे से ऊँचे गम्भीर भाव भी प्रकट किये जा सकते हैं।

मनुष्य मननशील है। मनन शील होने कारण ही मनुष्य उन्नति की आकांक्षा रखता है। पशु संसार में यह बात नहीं पाई जाती। आज तक उनके जीवन में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता। पर मनुष्य की दशा भिन्न है। आदिम युग से आज उसमें महान परिवर्तन हो गया है पहिले जो कार्य अति कठिन और असम्भव समझे जाते थे वे आज सरल और सम्भव बनाये जा सकते हैं। मनुष्य इसी प्रकार आदि काल से अपने विचारों का संग्रह करता आया है। वह अपने विचारों को केवल मस्तिष्क के सीमित दायरे में बन्द कर के नहीं रख सकता। वह उसे प्रकृति वश किसी न किसी रूप से प्रकट करता ही है। इसी प्रकटीकरण के लिये उसने बड़े बड़े शिल्प तथा स्थापत्य के सुन्दर सुन्दर मजबूत भवन निर्माण किये। इसीलिये उसने पर्वतों और गुफाओं को अपनी मनोभावनाओं से अंकित किया। अपने विचारों के प्रकटीकरण के लिये ही उसने भोज पत्रों तथा भाषाओं को अपना साधन बनाया। संसार में जो

उसने उस प्रभाव को अपने भावों को अपने भावों और अनुभूतियों से मिलाया। उसमें एक उत्तेजना एवं उद्रेक प्राप्त हुआ और तब कला पूर्ण रचना या काव्य का जन्म हुआ।

इस संसार से निर्मित ये काव्य ग्रन्थ न केवल हमारा मनोरंजन करते हैं बल्कि ये हमारे सच्चे मित्र की भाँति हमारा सदा उपकार करते रहते हैं। वे शिक्षा और उपदेश द्वारा हमारी सहायता करते हैं। दुःख और निराशा की अवस्था में हमें सहारा देते हैं। ये मनुष्य जीवन को उन्नत और उदार बनाते हैं। उसमें उत्साह और जीवन भर कर वीर कार्यों को करने के लिये उन्हें प्रेरित करते हैं। कविता समाज देश एवं व्यक्ति को भी आदर्श और उदार बना देती है। इसी के द्वारा मनुष्य में दान शीलता एवं भावुकता आती है। जिससे वह बड़े बड़े कार्यों को कर के संसार में यशस्वी और महा पुरुष बनता है। कविता ही मनुष्य के हृदय के भावों को रसों की सृष्टि द्वारा तीव्र बनाती और उन्हें प्रकट करने में सहायता पहुँचाती हैं। अलंकारों एवं ध्वनियों आदि के द्वारा वस्तुओं एवं भावों के ठीक ठीक रूप को समझाने में सहायता पहुँचाती है।

कविता का प्रभाव हमें उन ग्रन्थों के विवेचन से ज्ञात होता है जिन्होंने मानव समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर डाले हैं। जो कार्य बड़े बड़े राजा महाराजा नहीं कर सके, जिन कार्यों को करने में राजनीतिक कुटिलतायें एवं विज्ञान भी असफल रहा, उन्हें विशिष्ट ग्रन्थों ने सफलता पूर्वक किया है। इन ग्रन्थों में वेद, रामायण, महाभारत, गीता, अभिज्ञान शाकुन्तल, राम चरित मानस, भारत, भारती आदि मुख्य हैं।

वेदों ने युगों तक मानव ज्ञान की वृद्धि और रक्षा की और उन्हीं से ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। आज हजारों

वर्षों तक इनका प्रभाव भारतीय जीवन में दिखाई देता है। रामायण केवल आदि काव्य ग्रन्थ ही नहीं है किन्तु उसने अनेकों कवियों तथा लेखकों को काव्य के विभिन्न अंगों पर रचनायें करने के लिये प्रेरित किया है। महाभारत कोरा एक धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं है बल्कि उसमें नीति और राजनीति के भंडार भरे पड़े हैं। महाभारत को देखने से पता चलता है कि भारत सभ्यता और राजनीति में आज से हजारों वर्ष पहिले भी कितना उन्नत हो गया था जिस की तुलना आज की किन्हीं बातों से भी नहीं की जा सकती। गीता का प्रभाव न केवल हिन्दू जाति पर, पर समस्त विश्व पर इतना अधिक पड़ा है कि वह संसार के सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थों में परिगणित की जाती है। एक केवल अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वारा पाश्चात्य लोग यह समझ सके कि भारतीय भी पाश्चात्य देशों की भाँति एक समय सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच गये थे। रामचरित मानस का जो अमिट प्रभाव हिन्दू जीवन पर पर पड़ा है उसे आज कौन नहीं जानता। यह हिन्दू जीवन की नस नस में व्याप्त हो गया है। केवल एक इसी ग्रन्थ ने मरणासन्न हिन्दू जाति की रक्षा कर उसमें बल जीवन और साहस की उत्पत्ति की। इसी प्रकार वर्षों तक भारत-भारती भी भारतीय युवकों को प्रेरणा जीवन और देश-प्रेम का भाव भरती रही है।

अन्त में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जैसे जैसे मनुष्य प्रकृति से दूर होता जाता है, सभ्यता और विज्ञान की ओर बढ़ता जाता है, वैसे वैसे वह कविता की स्वच्छ निर्मल धारा से दूर होता जाता है; उसमें भावों का स्वाभाविक प्रवाह मन्द पड़ता जाता है। आजकल प्रायः इसीलिये सभ्य एवं विज्ञान प्रधान देशों में कविता का ह्रास पाया जाता है।

नवयुग का सन्देश-खादी

आज से सोलह सत्रह वर्ष पहिले सुषुप्त भारत की नसों में ऐसा जीवन स्रोत प्रवाहित होगा जिससे विज्ञान की ओर तीव्र गति से जाने वाला विश्व परतन्त्र भारत की ओर स्तंभित दृष्टि से देखने लगेगा! उस समय जब सारा यूरोप महायुद्ध की थकान मिटाने में संलग्न था, मुट्ठी भर हड्डियों के एक ढाँचे ने इंग्लैंड को सुख की नींद नहीं सोने दिया।

गत यूरोपीय महायुद्ध को हम एक विभाजक रेखा Line of demarcation मान सकते हैं। इस महायुद्ध की समाप्ति से एक नवीन युग का प्रारंभ होता है। इस नवीन युग के लिये, अन्य युगों के समान एक संदेश की आवश्यकता थी। महात्माजी में हमने एक युगप्रवर्तक पाया और उनकी वाणी में मानवता की मुक्ति का संदेश सुना।

इस नवयुग के संदेश में मानव समाज का हित और उन्नति सन्निहित है। यंत्रों के द्वारा पिसती हुई गरीब जनता की मुक्ति और बेकारी का हल इस नव संदेश में है। आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि कोण के साथ ही साथ इसका आध्यात्मिक पहलू भी है। आज मनुष्य को यन्त्रों से त्राण पाना है और वह मुक्ति केवल खादी द्वारा ही संभव हो सकती है।

खादी में गांधीजी का व्यक्तित्व सन्निहित है और गांधीजी में खादी की व्यापकता। गांधी और खादी को पृथक पृथक नहीं देखा जा सकता। महात्माजी के छोटे से शरीर में एक महान आत्मा प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार खादी में एक निर्धन राष्ट्र के प्राणों का समावेश है।

गांधी नाम से ही एक स्फूर्ति होती है, एक सुप्त आत्मा जागृत होती है। इसी प्रकार खादी के नाम से आत्मा की पवित्रता, राष्ट्र की स्वतन्त्रता और प्राणों का निखरापन प्रकट होता है। गांधी यदि क्राइस्ट के पश्चात् सबसे बड़ा महापुरुष है तो खादी भी महापुरुष के पश्चात् का नवाविष्कृत अमोघ शस्त्र है। गांधी का त्याग, सादगी, महानता, सत्याग्रह-भावना एवं सद्विचार इसी खादी में विद्यमान है।

खादी ने आध्यात्मिकता को ही अपनी अनुचरी नहीं बनाया, किंतु राष्ट्रीय भावना पर भी अपना एक छत्र अधिकार जमा लिया है। खादी ने आज हमें उस स्थान पर ला रखा है जहां से हम स्वातन्त्र्य सूर्य प्रकाश को स्पष्ट रूप से देखने लगे हैं। एक महान ज्योतिपिंड जिस प्रकार स्वयं नष्ट होकर अपने अणुओं को भूमि पर बिखरा देता है अथवा परमब्रह्म ने जैसे अपने को इस लोक में व्याप्त कर अपनी शक्तियों को बिखरा दिया है और उसका अंश जो प्राणी मात्र में है उसीसे हम उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, ठीक इसी प्रकार महात्माजी भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्र भावना में आज खादी के रूप में व्याप्त हो गये हैं।

खादी राष्ट्र का प्राण है। एक अमोघ शक्ति है। यूरोप में विज्ञान के बल पर राक्षसी शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया है। विज्ञान से गौरवान्वित (?) इस बीसवीं शताब्दी ने देवत्व को दबा दिया है और इस राक्षसी की जान है 'व्यवसाय रूपी पक्षी' में।

हमें अपने स्वतंत्रता-संग्राम में विजय प्राप्त करना है। देश की आर्थिक अवस्था को सुधारना है और इनकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय खादी ही है; किन्तु दुःख है, इस युग के इस संदेश को अभी-तक देश समुचित रूप से हृदयंगम नहीं कर सका है। विश्व तो अभी समझ ही नहीं पाया है; यद्यपि पिछले सोलह वर्षों से खादी के

इतिहास का क्रम-विकास हमें बताता है कि किस प्रकार खादी ने राष्ट्र का कल्याण किया है, किस प्रकार देश की आर्थिक स्थिति सुधारने में सहायता पहुँचायी है, किस प्रकार साम्राज्यवाद की भावना पर कुठाराघात किया है और किस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता और आचार व्यवहार की ओर दौड़ते हुए तरुणों को रोककर भारतीय संस्कृति एवं सादगी की ओर आकर्षित किया है।

मोटे खद्दर का एक एक रेशा भारत की नस नस में जीवन—स्रोत प्रवाहित करने का सामर्थ्य रखता है। भारत एक निर्धन देश है। भारत के एक चौथाई नर कंकाल—उतने ही रक्त मांस के लौंदे जो यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका की भूमि पर धन से खिलवाड़ किया करते हैं, पेट पर पट्टी बाँधकर सोया करते हैं, भारत के आधे से अधिक मनुष्य, उतने ही मनुष्य जितने समस्त यूरुप से फूट निकलना चाहते हैं—नहीं जानते दिन में दो बार किस प्रकार भोजन किया जाता है।

भारत के दीन किसान की अवस्था तो शोचनीय है ही। अभी अभी काँग्रेस मिनिस्ट्री में वह कुछ सुख की साँस ले सका है।

नगरों में भी विषमतायें कम नहीं हैं। हमारे आधुनिक शहर प्राचीन पवित्र नगर नहीं हैं बल्कि पाश्चात्य सभ्यता, शिक्षा और संस्कृति के पोषक होते चले जा रहे हैं। नगरों में बहुसंख्यक साधारण जनता का सुख, स्वास्थ्य, शांति और सदाचार इनेगिने मालिकों, पूंजीपतियों, सूदखोरों और 'उच्च श्रेणी वालों' की मिलों, मोटरों, स्वार्थ और अधिकार प्रदर्शन पर निछावर हो रहे हैं। और बीसवी शताब्दी अपनी छाती पर पत्थर रखे इन्हें सहन शक्ति की सीमा पर पहुँचा रही है।

अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये अमेरिका ने टनों गेहूँ अग्निदेव को भेंट कर दिये हैं जिनसे कुछ दिनों तक आधे विश्व को भोज दिया

जा सकता था, सारे संसार के भूखे प्राणी वर्षों तक भर पेट भोजन प्राप्त कर सकते थे। किन्तु 'डालरों के देश' से यह न हो सका। हम देख रहे हैं, आज जापान चीन की भूमि पर ताण्डव नृत्य कर रहा है और विश्व! वह खीझ रहा है, तिलमिला रहा है; किन्तु कुछ कर नहीं सकता। चीन में निरीह जनता और भोलेभाले बच्चों पर तोप के गोले बरस रहे हैं, पर सब चुप हैं, शक्तिहीन हैं, निर्वीर्य हैं, पंगु हैं। आज विश्व की परिस्थिति यह है:—

'शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का।
औ' मानव को हम कुत्सित चित्र बनादें शव का पंत''

ये सब घटनाएँ आज क्यों संभव हो रही है? मानव तो इतना क्रूर किसी युग में नहीं रहा। कम से कम सभ्यता के नाम पर तो वह इतना क्रूर उस बर्बरता के जमाने में भी न था जब चंगेज, तैमूर और नादिरशाह के कत्ले आम हुआ करते थे। वे क्रूर थे तो उनके हृदय में भी शायद करुणा के कुछ कण रहे होंगे। बीसवी शताब्दी के मानव में तो ऐसा ज्ञात होता है कि करुणा के स्थान पर 'शुगर कोटेड' क्रूरता भरी हुई है। इन सब विषमताओं के कारण क्या हैं? क्या हम निराश हो जायँ और मुसोलिनी, हिटलर और जापान की क्रूर प्रवृत्ति के समक्ष अपना सिर झुकादें? अथवा मानलें कि आज विश्वभर अब मानव नहीं रहा। केवल उसकी पत्थर की मूर्ति रह गई है? क्या मानव सदा इसी प्रकार कुचला जाता रहेगा?

हम जानते हैं बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ही बौद्ध मत संसार में व्यापक बना। हम खूब जानते है ईसा के सूली चढ़ जाने पर ही उसके खूं का असर विश्व पर फैल सका। इसी प्रकार हम देख सकते हैं कि आज हम महात्माजी के संदेश की जिसमें विश्व कल्याण निहित है, कुछ चिंता नहीं करते। उसे असंभव, धार्मिक, राजनीति

से परे एवं असामयिक समझते हैं तो समझलें क्यों कि हम भी तो अपने को 'कुछ' समझते हैं। किंतु जब दौड़ती हुई दुनियाँ थक जायगी, जब उसके पाँव आगे की ओर नहीं बढ़ सकेंगे तब वह ठहरेगी, उसे ठहरना होगा। तब वह देखेगी कि इस अंधाधुंध दौड़ में, विपथ में, कितनी दूर तक आगे बढ़ आई है। और तब महात्माजी का संदेश खादी की महानता का प्रकाश ही हमारा पथ प्रदर्शन करेगा।

तब हम आज ही इस युग की उस महान् विभूति के सन्देश को व्यवहार्य क्यों न बनादें ? क्यों न विश्व शांति एवं कल्याण का पथ ग्रहण करें ? यह तो निर्विवाद रूप से परीक्षण द्वारा सिद्ध हो चुका है कि जब जब देश का ध्यान खादी की ओर गया है तब तब बराबर फैशन का, बहुखर्ची का, विलास एवं ऐश्वर्य की भावना का स्थान सादगी, मितव्ययता एवं पवित्रता ने ले लिया है।

असहयोग आंदोलन के पश्चात् सामूहिक रूप से जनता में जो सादा जीवन व्यतीत करने की भावना क्रमशः उत्तरोत्तर पुष्पित हुई थी वह अब कुछ क्षीण होती सी दिखाई देने लगी है। अतएव एक बार पुनः उतने ही जोर से इस संदेश को सुनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। यद्यपि हमारा ध्यान आज विश्व की विभिन्न जटिल परिस्थितियों की ओर खिचा हुआ है तो भी इस युग के संदेश की अवहेलना करना, अपने पैरो पर अपने आप कुठाराघात करना है।

('नव राजस्थान' आकोला, १५ जनवरी, १९३८)

★

पशु-धन-रक्षा

मुझे भारतवर्ष की दशा देखकर अत्यंत खेद उत्पन्न होता है। जिस समय मैं भारतवर्ष की दशा पर ध्यान देता हूँ रोमाँच हो आता है। क्या यही हमारा प्यारा भारतवर्ष है जिसमें सदा से दुग्ध-धारा प्रवाहित होती रही, जो सदैव रत्नादि से पूर्ण रहा जिसने पूर्व काल में अकाल का नाम तक नहीं सुना, जो नित्य ही धन-धान्य से पूर्ण रहा। उसकी आज क्या दशा है? यह वही भारतवर्ष है जिसमें महावीर, गौतमादि अहिंसा के प्रबल-प्रचारक हुए? वर्तमान दशा को देखते तो संदेह उत्पन्न होता है कि क्या यह वही भारतवर्ष है जिसमें चक्रवर्ती राजा दिलीप ने केवल एक गौ-रक्षा के लिये, गौ की सेवा के लिये समस्त राज्य, धन, वस्त्राभूषण त्याग दिये थे। एक गौ के लिए वह बन बन मारा मारा फिरा तथा उसी गौ को व्याघ्रोन्मुख देख उसके लिये अपना शरीर अर्पण करने को तत्पर हो गया। हाय! हिन्दुस्थान! तू क्या अब वही हिन्दुस्थान है? जिसमें चिरकाल से मांस-भक्षण निषेध होता रहा। तेरे एक पशु के लिए वशिष्ठजी ने अपने सौ पुत्रों को मरवा डाला था।

भारत अब तू वह न रहा। आज तेरे वक्षःस्थल पर क्या हो रहा है सो तू जानता है। यदि नहीं जानता हो तो सुनले। तेरी छाती बेचारे मूक पशुओं के रक्त से रंजित होती रही है। तू सो रहा है।

यह मत समझ कि वे ही मर रहे हैं। वे हम भारतवासियों को भी मार रहे हैं। हम लोग निर्बल हो रहे हैं। घृत दुग्धादि पौष्टिक पदार्थ प्राप्त न होने से हम लोग पीले पड़ रहे हैं। तुझमें अभी भी कुछ दम हो, कुछ प्राण हों तो चेत। अभी समय है अपनी

बिगड़ी बनाले नहीं तो 'का वर्षा जब कृषी सुखाने' पीछे पछताना पड़ेगा। अन्य देशों की बात छोड़ दें। वे तो शौच हैं। रक्त पीकर अपना निर्वाह कर लेंगे। पर तुझ बलहीन का तो इन्हीं पर गुजारा और एक सहारा है। तेरा सारा दारोमदार इन्हीं पर है। समझले जिस दिन पशुओं का ह्रास हो जायगा उस दिन तेरा भी संसार से नाम मिट जायगा। सुधारना है तो सुधारले अभी समय है।

अन्य अन्य कर्तव्यों के साथ साथ आपका यह भी कर्तव्य है कि आप अहिंसा का तन मन धन से प्रचार करें। इन सहस्त्रों जीवों की करुणा पूर्ण आहों को शान्त करें तथा इससे अपूर्व पुण्य संचय करें। मनुष्य की परीक्षा उसी समय होती है जब उस पर कुछ आपत्ति आती है। स्वर्ण की परीक्षा उसी समय होती है जब वह तपाया जाता है। आप लोगों की परीक्षा का समय आ गया है। यह परीक्षा उन लोगों की है जो दूसरों के अधिकारों की रक्षा चाहते हैं, जो अपने को बड़ा कहते हैं। लोगों का कर्तव्य है कि इन भाषा हीन जीवों की रक्षा करें।

पहले तो इतना ही था कि लोग यज्ञादि धर्म कार्यों में—जिसे कि वे अपने विचारानुसार धर्म समझते थे—करते थे। किन्तु अब तो सरासर पेट को कबरस्तान बनाने के हेतु हिंसा होती है। इस स्थिति ने और भी भयावह रूप धारण कर लिया है। भीषण परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। कहाँ का धर्म, कहाँ का कर्म, यहां तो उदरपूर्ति के लिये, स्वाद के लिए, लम्बा चौड़ा बदन फुलाने के लिये, क्रूर भावनाएं पैदा करने के लिये पशुओं का वध किया जाता है।

पहले पशुओं की हिंसा कम होती थी। और जो भी होती थी यज्ञादि के समय ही, दूसरे दूसरे अवसरों पर सदा ही पशुओं पर ही नहीं प्रत्युत छोटेसे छोटे प्राणियों तक पर भी पूर्ण दया रखी जाती थी। कोई व्यक्ति आवेश या क्रोधवश मूक प्राणियों पर अत्याचार

नहीं कर सकता था, पशुओं के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। उनकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। उनके पोषण के लिए हरे हरे मैदान, चरागाह बना दिये जाते थे। उस समय पशु रक्षा के लिये राजाश्रय था। राजा लोग स्वयं उनका ध्यान रखते थे। राज्य की ओर से नियम-निर्माण किये जाते थे जिससे गौ आदि पशु अच्छी दशा में रहते थे। प्रत्येक हिंदू, मुसलमान, ईसाई का यह कर्तव्य है कि वह पशुओं के लिये नहीं तो कम से कम अपने लिये तथा अपनी रक्षा के लिये तो इनकी रक्षा करे, क्योंकि भारत सरीखे कृषि-प्रधान देश में हमारा अधिकांश कार्य इन्हीं दीन प्राणियों पर निर्भर है, और इन प्राणियों की इस समय बड़ी चिंतनीय दशा है। भारतवासी मशीनों से कार्य चलाने के लिये नितांत ही असमर्थ हैं, इससे भी हमें इन गौ आदि पशुओं की जरूरत है।

कल्पना कीजिये आप पर कोड़े पड़ रहे हैं, आपका सिर छुरे के नीचे है, आप मल मूत्र से भरे मैले कुचैले स्थान में लिटा दिये गये हैं, या आपकी शिकार खेलने को कोई शिकारी आप पर बान ताने हुए है। आप उस समय प्राण लेकर भागे जा रहे हैं। आपको पहले एक बान भी पड़ गया है। पाँव में भी कुछ घाव हैं। बस इस समय रुक जाइये और देखिये। अपने कलेजे पर हाथ रखिये और उससे पूछिये वह क्या कहता है ?

उस सर्व शक्तिमान, परम-पिता परमेश्वर की यह आज्ञा नहीं कि मनुष्य उसकी रचना को नष्ट करे। ईश्वर, खुदा, गॉड एक ही है। वह सबका पिता है। यदि वह सबका पिता नहीं तो सर्वशक्तिमान नहीं। परमेश्वर नहीं, यदि आप कहें कि परमेश्वर ने ये प्राणी हमारे उपयोग को दिये हैं। हमारे मन में आवे सो करें, यह अच्छी दलील नहीं। क्यों ईसा तो यह कहता है कि जो तेरे एक गाल पर चपत

लगावे उसके सामने तू दूसरा भी करदे।

"Thou shalt not kill" का अर्थ चाहे दो हजार वर्ष पूर्व मनुष्यों तक ही परिमित हो। वह जमाना सभ्य नहीं था, वह पिछड़ा हुआ था। इस बीसवीं शताब्दी और इस समय को स्वर्ण-युग कहते हैं। अब वह समय नहीं रहा। उसकी सीमा बढ़ा कर पशु पक्षियों तक लाना ही पड़ेगा। यदि आप इस युग को, सभ्यता, मनुष्य की पूर्ण उन्नति का युग मानते हैं तो पशु-वध को मिटाना ही पड़ेगा।

सब लोगों को अपनी अपनी कृति से प्रेम होता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो अपनी बनाई हुई वस्तु को आपही अपने सामने नष्ट होने दे। कोई भी चित्रकार, खिलौने बनाने वाला अपने चित्रों, खिलौनों को बनाकर नहीं बिगाड़ता। फिर सर्वेश ही के सिर पर क्यों ऐसी सनक सवार हुई कि वह अपनी निर्मित वस्तु को नष्ट करे या करवाये।

यदि आप कहें चतुर चित्रकार अपने बुरे चित्रों को इसलिये नष्ट कर सकता है कि जिससे वह अपनी उत्तम कृतियों द्वारा यशोभाजन बने, तो क्या एक चित्रकार की श्रेणी में सर्वशक्तिमान् को भी बैठाना चाहते हैं? स्मरण रखिये हम आप भूल कर सकते हैं किन्तु वह घट घट ज्ञाता कभी भूलकर भी भूल नहीं कर सकता।

कई लोगों का ख्याल है कि देवी, देवता पर बलि चढ़ाना ठीक है। इससे वे प्रसन्न होते हैं। अरे! हृदय रखने वाले मित्रो! जरा सोचो तो कौन ऐसा देव, जगदंबा होगी जो पाशविक कार्य करे। जब पशु से काम करने लगे, माँस भक्षण करने लगे तो फिर वे देव कहाँ रहे? पिशाच हो गये। (पिश=माँस+आच=भक्षक)। बतलाइये ऐसी भी कोई माता है जो अपने पुत्रों का वध चाहे? काली को जगदंबे (जगत की अंबे=माता) कहते हैं, उसे माता बताते हैं तो हम उसके संसार

की सीमा बोलते प्राणियों तक ही क्यों रखते हैं। यदि रखते हैं तो फिर उसे जगदंबे नहीं मनुष्य कहना चाहिए। जिह्वा-लोलुपतावश हिंसा करने वाले सोचें उनके ऊपर भी कोई है। तुम्हें जगन्नियंता के निकट उत्तर देना है।

शिकारियों से कोई पूछे क्यों भाई शिकार से क्या लाभ ? तो बतलाते हैं शिकार से मनोरंजन होता है। जंगल में दौड़ने से शुद्ध वायु मिलती है, व्यायाम होता है। किसी को यमलोक पहुँचा दिया तो कई दिन की भोजन सामग्री हो गई। पर क्या व्यायाम, मनोरंजन, शुद्ध वायु सेवनादि का यही अच्छा मार्ग आपको मिला। क्या अन्य किसी भाँति ये बेचारे दीन प्राणी ही क्यों आपके हौसला निकालने के कारण बने हुए हैं। सीधे शब्दों में यह न कहिये कि इनको तड़फड़ाता देखकर, इसको गोली खाकर गिरते देखकर, इनको प्राणों को लेकर भागते देखकर, इनके रुधिर माँस को देखकर हमें सुख मिलता है। पर यह सुख नहीं आपका बहाना है। अतः किसी भी दृष्टि से विचारा जाय, चाहे तो आवश्यकता की दृष्टि से चाहे तो भावनाओं की दृष्टि पशु-वध त्याज्य है।

प्रौढ़ शिक्षण और तत्संबन्धी साहित्य

जब हम विश्व के अमेरिका, जापान, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि देशों की ओर देखते हैं तो हमारे हृदय में एक बड़ा विस्मय का भाव पैदा होता है। कहाँ तो ये देश हैं जिनमें न केवल पुरुष ही किंतु स्त्रियें भी शत प्रति शत साक्षर और उच्च शिक्षा में दीक्षित पाई जाती हैं। उनके जीवन में शिक्षा ने एक नवीन उत्साह, जागरण देश भक्ति का भाव भर दिया है। दूसरी ओर कहाँ हमारा देश है जिसमें केवल दस प्रतिशत व्यक्ति ही साक्षर हैं। यदि शिक्षितों की संख्या का विचार किया जाय तो पाँच प्रतिशत भी वे न निकलेंगे। क्या यह हमारे देश के लिये कलंक की बात नहीं है?

जिस देश के निवासी शिक्षा से वंचित रहते हैं या रखे जाते हैं, उनकी अधोगति की कोई सीमा नहीं हो सकती। सुशिक्षा के अभाव के कारण ही आज देश अधोगति के गर्त से ऊपर नहीं उठ रहा है। देश में रोग पूर्ण और अस्वास्थ्यकर वातावरण फैला हुआ है। सारा देश आज अज्ञानता के कारण नैतिकता से गिर आपसी कलह और फूट के दल दल में फँसा हुआ है। बीमारियों के समय मनुष्यों एवं बालकों की मृत्यु संख्या बहुत बढ़ जाने का कारण भी यही समुचित शिक्षा का अभाव है। औद्योगिक तथा शारीरिक हीनता का कारण भी यही है।

यदि अन्य देशों के समान हमारा भारतवर्ष भी सुखी, सम्पन्न, स्वस्थ और संतत स्वाधीन रहना चाहता है तो हमें जल्दी से जल्दी

इसे साक्षर और शिक्षित बनाना पड़ेगा, देश में जागृति और जीवन डालने के लिये उसे शिक्षा देनी ही होगी। शिक्षा से हमारी संस्कृति की रक्षा ही नहीं होगी, प्रत्युत हमारा देश पुनः हरा भरा और सुखी हो जायगा।

हमारे इस कथन से प्रौढ़ शिक्षण का महत्व प्रदर्शित होता है। प्रौढ़ से हमारा आशय ऐसी शिक्षा से है जो अपढ़ बड़ी अवस्था वाले पुरुषों एवं स्त्रियों को दी जावे। चूँकि बालकों एवं नागरिकों की शिक्षा का थोड़ा बहुत प्रबन्ध है, किंतु ग्रामों के अन्दर और अपढ़, बड़े लोगों में शिक्षा का अभाव है, हमें ऐसे ही लोगों को साक्षर और यदि हो सके तो शिक्षित बनाना होगा।

न केवल व्यक्ति की दृष्टि से ही किन्तु राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से भी प्रौढ़ शिक्षण की आवश्यकता है। भारतीय आज स्वतंत्र हो चुके हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें राष्ट्र के शासन की बागडोर अपने हाथों में लेकर कार्य करना है, प्रान्तों में शासन और न्याय करना है। अन्य देशों से अपने व्यापारिक, राजनैतिक संबंधों को स्थापित करना है। स्वतंत्र रूपमें भारतीय एवं विश्व संबंधी समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करना है। अब हमें महत्वपूर्ण निर्णयों पर पहुँच कर शीघ्रता से कार्य करने होंगे। हमारे कथनों एवं कार्यों का प्रभाव विश्व के अन्य भूभागों पर पड़ेगा, और हमारी सतर्कता अथवा भूलों के हानि लाभ हमें सहना पड़ेंगे। ऐसी अवस्था में यदि भारत शिक्षित न होगा तो वह सबल और स्वस्थ भी न हो सकेगा। अतः राष्ट्रीय दृष्टि से तो प्रौढ़ शिक्षण की महती एवं अनिवार्य आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारे देश में हम इसकी क्या व्यवस्था करें और किस प्रकार। देश बहुत बड़ा है। आबादी बहुत घनी है। देश बहुत गरीब और विभिन्न प्रकारके दोषोंसे घिरा हुआ है।

अब तो हमें अपने पैरों पर ही खड़े होकर अपने देश को शिक्षित करना और उसे ऊँचा उठाना होगा, यदि सरकार हमारी सहायता करती हो तो अच्छा ही है यदि वह असमर्थ रहती है तो हमें इसका भी प्रबन्ध करना पड़ेगा, और हमें अपनी सेवाएँ अपने देश को देना होंगी। वर्तमान परिस्थिति में हमको ही यह कार्य करना होगा। चाहे तो हम इसे स्वतः करें अथवा सरकार द्वारा स्थापित धारा सभाओं पर अधिकार कर अपने बहुमत द्वारा सरकार को इस परम महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये बाध्य करें। पर जब तक यह कार्य नहीं होता तब तक हमें अपने पैरों पर खड़े होकर अन्य प्रकार से इस कार्य को करना ही होगा।

इसके लिये अब आवश्यकता इस बात की है कि हमारे शिक्षित तरुण गाँवों गाँवों में फैल जावें और ग्रामीण बन्धुओं में अपने को बिखरा कर उन में शिक्षा के बीज बो देवें।

उन्हें इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और धन-सम्पतिशाली होने की अभिलाषाओं तथा शहरी जीवन के मोह को बलि देना होगा। यदि इसके लिये रूस के समान हमारे नव-युवक एक लाख की संख्या में भी त्याग करने को तैयार हो जावें तो बड़ी सरलता के साथ दो चार वर्षों में ही हम अपने देश के अधि-कांश लोगों को साक्षर बना सकेंगे। ये नवयुवक पहिले केन्द्र स्थानों में ऐसे व्यक्तियों को पढ़ाने की शिक्षा देंगे। इनकी योग्यता यदि विशा-रद, मैट्रिक के समकक्ष हो तो उचित होगा। रूस में यही हुआ है। शिक्षित देश प्रेमी युवक गाँवों में फैल गये थे और उन्होंने न केवल ग्रामवासियों को ही शिक्षित बनाया था, परन्तु उनमें क्रांति के बीज भी बो दिये थे। परिणामतः एक ऐसा वातावरण तैयार हो गया था जो रूस की लाल क्रांति करने में समर्थ हुआ। ये लोग कोड़े कोड़े

विज्ञापन, इश्तहार, पुस्तिकाएँ लाखों की संख्या में बँटवा कर शिक्षा का प्रचार करते थे।

इसी प्रकार हमको भी अपना कार्यक्षेत्र अथवा निश्चित गाँव या स्थान चुन लेना चाहिये। सबसे पहिले हमें दो वर्ष का यह कार्यक्रम बना लेना चाहिये कि हम छः महीने या एक साल में प्रौढ़ अथवा अपढ़ बालक या बड़ों को इतना साक्षर बना देंगे कि वे साधारण मोटे टाइप की पुस्तकों को सरलता से पढ़ सकें। यह कार्य कम से कम पाँच वर्ष लेगा, क्योंकि प्रत्येक वर्ष हमें कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ाना पड़ेगी और अधिक अधिक ग्रामो को और अपढ़ अशिक्षित भाइयों को लेना पड़ेगा।

इस कार्य के साथ ही हमारे सामने उनके योग्य साहित्य तैयार करने का सवाल सामने आता है। सबसे पहिले ऐसी पुस्तकों को लिखना पड़ेगा जिनके द्वारा सरलता और शीघ्रता के साथ वे ज्ञान प्राप्त कर सकें। इसमें हमें दो भेद छात्रों एवं दो भेद पुस्तकों की दृष्टि से करना पड़ेंगे। एक तो वे छात्र होंगे जो कि अपढ़ बालक रहेंगे, दूसरे अपढ़ प्रौढ़ व्यक्ति होंगे। इन्हीं भेदों को ध्यान में रख कर साहित्य निर्माण करना होगा।

उनकी कतिपय अन्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भी कार्य करना होगा। आजकल ग्रामों में स्वास्थ्य के प्राकृतिक साधन तो मौजूद हैं, किंतु अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण हमारे देश वासी उन्हें बड़ा अस्वास्थ्यकर और अप्राकृतिक बना डालते हैं। उनमें अभी तक आधुनिक उपयोगी ढंगों को काम में लाने की योग्यता भी नहीं है। वे पुराने तरीकों को ही काम में लाते हैं, यद्यपि उन तरीकों से कई प्रकार के लाभ हुए हैं और हैं, पर उनका पूरा उपयोग वे अब या तो जानते ही नहीं या अब उनमें कई प्रकार के परिवर्तन

करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। एक बात और वह यह कि वे कृषि सम्बन्धी कई बातों को जानते हुए भी आधुनिक आविष्कारों तथा यंत्रों से अपरिचित हैं। अतः ऐसे ग्रन्थों का निर्माण उनके लिये करना होगा जिनसे सरल और सुबोध तरीकों के द्वारा उन्हें ज्ञान प्राप्त हो सके।

भाषा एवं लिपि के साधारण ज्ञान के पश्चात उन्हें थोड़ा देश के इतिहास और भूगोल का भी ज्ञान होना चाहिये। इतिहास ज्ञान के लिय यह आवश्यक नहीं है कि वे राजाओं या लाटों के कार्यों का ही वर्णन पढ़ें परन्तु उन्हें देश की वास्तविक दशा, सामाजिक प्रथाओं का साधारण ज्ञान तथा वर्तमान परिस्थिति का आवश्यक परिचय होना चाहिये। भूगोल पढ़ाने का यह आशय नहीं कि उन्हें नदी पर्वत या शहर आदि के नाम रटाये जायँ, परन्तु ऋतुएँ कब होती हैं, उनका जलवायु पर या उन पर जलवायु का क्या प्रभाव पड़ता है, कैसी भूमि में किस प्रकार का अनाज कब बोया जाना चाहिये। दूसरे प्रांतों तथा देशों में खेती से सम्बन्ध रखने वाले कौन कौन से लाभदायक कार्य हो रहे हैं उन्हें यह सिखाया जाय। इस ज्ञान के साथ उन्हें थोड़ा अपने देश के शासन तथा आय व्यय के मार्ग, रुपया उधार लेने और उसे चुकाने के स्थान बैंकों आदि का भी ज्ञान होना चाहिये, ताकि वे अपने कमाए हुए द्रव्य का उपयोग अपने लाभ के लिये कर सकें।

गाँवों के स्वास्थ्य की ओर भी हमें ध्यान रखना होगा। गाँवों में लोग कूड़ा, कचरा, गोबर या खाद तथा अन्य चीजों का क्या उपयोग करना और उन्हें कहाँ रखना यह नहीं जानते। उन्हें यह समझाना होगा कि वे इन चीजों को अपने घरों के आस पास न डाल कर दूर इकट्ठा किया करें और इनको बेकार जलाकर अपना नुकसान

न किया करें, बल्कि इनका खाद तैयार कर खेतों में काम में लावें। प्रायः भयंकर छूत की बीमारियों के समय गाँव के गाँव इसलिये नष्ट हो जाते हैं कि उन्हें उनसे बचने के साधारण उपाय भी ज्ञात नहीं होते। अतः ऐसे ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिये जिनसे उन्हें इस प्रकार का ज्ञान दिया जासके। साथ ही इस बात का भी हमें ध्यान रखना होगा कि अपने कार्यों में उलझकर वे पढ़े हुए ज्ञान को भूल न जावें। इसलिये कुछ कहानी, किस्सों या धार्मिक कथाओं वाला साहित्य भी जो सरल और उनके योग्य हो लिखा जाना चाहिए। इसी दशा में प्रौढ़ शिक्षण सफल और लाभदायक हो सकता है।

भारतेंदु बाबू का नाट्य-साहित्य

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ ऐसे समय हुआ जब संस्कृत एवं प्राकृत का नाट्य-साहित्य उन्नति के शिखर पर पहुँच कर अवनति की ओर अग्रसर हो गया था। उसमें विद्वत्ता एवं विकृति ने स्थान कर लिया था। फिर उन रचनाओं के खेले जाने के साधन प्रायः लुप्त हो चुके थे। मुस्लिम बाह्य आक्रमणों ने इस काल के लिये कोई क्षेत्र नहीं रहने दिया था। वह एक संक्रांति काल था। फलतः ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कोई उल्लेखनीय नाटक-रचना हमें प्राप्त नहीं होती। हाँ, नाटक-नामक कविता-नाटक जो महाकवि तुलसी कृत रामचरित-मानस एवं सूरदासजी के कृष्ण-वर्णन के आदर्श और अनुकरण पर लिखे गये अवश्य प्राप्त होते हैं।

बात यह थी कि ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् भारत पराधीनता की बेड़ियों में अधिकाधिक जकड़ाता गया। उसका न केवल राजनीतिक जीवन ही किन्तु सामाजिक और धार्मिक, गार्हस्थ्य और दैनिक जीवन भी संकटपूर्ण, आपत्तियों से घिरा हुआ, युद्ध समन्वित हो गया। वह एक ऐसी अवस्था थी कि एक भारतीय उस समय सुख की स्वाँस नहीं ले सकता था। यद्यपि प्रारम्भ में एक अवधि के पश्चात् ही आक्रमण होते थे किंतु उन आक्रमणों की रोक की तैयारी में, उनकी आशंका में ही भारत उस समय व्यस्त था। इसलिये उसके जीवन से उस समय मनोरंजन की भावना प्रायः लुप्त हो गई थी। यह ऐसी भावना है, जो नाट्य-साहित्य को जीवन देती रहती है, उसके विकास में, वृद्धि में सहायक हुआ करती है। अतएव जब यह भावना ही मर रही थी तब हिन्दी-नाट्य-साहित्य किस प्रकार पनप सकता या फल-फूल सकता था?

बाद में आवश्यकताओं और शासन की स्थिरता ने हिन्दी-साहित्य में विश्व-कवि सूर और तुलसी की अमर रचनाओं का प्रादुर्भाव किया। उनकी रचनाओं का न केवल हिन्दी-साहित्य पर अपितु भारतीय साहित्य पर भी अमिट और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इनके पश्चात् का हिन्दी-साहित्य इन्हीं का आदर्श और अनुकरण है। इन्हीं के साहित्य की व्यापक झलक, व्यक्तीकरण है। इन्हीं के भावों एवं भावनाओं का वितरण और ग्रहण है। इसीलिये भारतेन्दु बाबू के पहिले जो हिन्दी की मौलिक नाट्य-रचनाएँ हुई, क्योंकि सूर-तुलसी के इस व्यापक प्रभाव का फल यह पड़ा कि जब देश में श्मशान शान्ति के समान शान्ति हुई, कुछ स्थिरता और निश्चिंतता कुछ अंशों में आई, तब जनता की वही मृत मनोरंजन भावना पुनः जीवित हुई। फलतः कविता-नाट्य-रचनाएँ लिखी गईं। इनका आदर्श रामलीला और कृष्णलीलाएँ थीं। इनके लेखकों के नाटक भी छन्दोबद्ध होते थे। क्योंकि सूर और तुलसी की रचनाएँ ऐसे भाव-चित्र हैं और उनमें कथोपकथन के तत्व की इतनी प्रचुरताएँ हैं कि यदि उन्हें कविता-नाटक की संज्ञा दी जाय तो कुछ अनुचित नहीं। 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'समयसार' आदि नाटक इसी कोटि में आते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह के नाटक इस श्रेणी में नहीं आ सकते क्योंकि वे संस्कृत के अनुवाद हैं, मौलिक रचनाएँ नहीं। किन्तु हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर विचार करते समय उनके अनुवादों पर इसलिये ध्यान जाता ही है कि उक्त राजा साहब नाटक की मूल भावना को समझ सके थे। सूक्ष्म रूप से उनके मस्तिष्क में यह बात अवश्य रही होगी कि जो कविता-नाटक, रामलीला और कृष्णलीला के अनुकरण पर बने हैं वे वास्तव में नाटक नहीं हैं और हिंदी-साहित्य को अब 'कम्पनी महाराज' के शासन की स्थिरता में नाटकों की—मनोरंजन

की—आवश्यकता है और चूँकि वह हिंदी नाट्य-साहित्य की प्रारंभिक अवस्था थी जो प्रायः अनुवाद से ही शुरू होती है—उन्होंने अनुवाद की ओर ही ध्यान दिया। प्रारंभ में उत्तम रचनाओं के लिखने की क्षमता का अभाव भी प्रायः रहा ही करता है और उच्च कोटि की रचनाओं के पहिले जीवित अथवा मृत ऐसी रचनाएँ अवश्य रहती हैं जिनको देख कर, जिनके दोषों और गुणों का मानसिक विश्लेषण कर कोई महान् कलाकार अमर कृतियें देता है। इसलिये राजा लक्ष्मणसिंहजी के अनुवाद हिंदी नाट्य-साहित्य की प्रारंभिकावस्था सूचित कर सकते हैं। उनका उद्देश्य नाटकानुवाद के साथ एक विशिष्ट भाषा का नमूना भी उपस्थित करने का था।

इस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने नाटक-लेखन आरंभ किया तब उनके सामने न कोई आदर्श था और न उदाहरण जिसको दृष्टि में रख वे आगे बढ़ सकते। इस समय तक भारतीय रंग-मंचों का भी सर्वथा अभाव था। जनता केवल 'यात्रा', 'कीर्तन', 'रामलीला', एवं 'रासलीला', आदि के ढंग पर नाटकीय प्रदर्शन प्राप्त करती और इन्हीं के अनुरूप अस्थायी रंग-मंच तैयार किये जाते थे और इन्हीं से उसे संतुष्ट होना पड़ता था। कवि 'देव' कृत 'देव-प्रपंच', 'माया-नाटक', नेवाजकृत 'शकुंतला', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', या ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटकों के साथ नाटक शब्द हैं किन्तु इनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। गिरिधरदास, भारतेन्दु बाबु के पिता का लिखा हुआ 'नहुप-नाटक' जिसे स्वयं भारतेन्दु हिंदी का पहिला नाटक मानते हैं ब्रज-भाषा में है। हाँ, नाटक की श्रेणी में आने वाले केवल राजा लक्ष्मणसिंह के 'अभिज्ञान शाकुंतल' आदि अनुवाद-नाटक अवश्य थे किंतु इस प्रकार के नाटकों का प्रचलन, उनकी शैली का महत्व इस समय अब

कि बंग-साहित्य पाश्चात्य ढंग की प्रणाली पर एक नवीन शैली को जन्म दे रहा था अश्रेयस्कर होता, आकस्मिक, और समय और जनता की रुचि के विरुद्ध होता। साथ ही कतिपय पारसी कम्पनियों ने पाश्चात्य ढंग, असाहित्यिकता, कुरुचि एवं नाटकीय विकृति को ग्रहण कर लिया था। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन प्रणाली पर—यद्यपि वह पर्याप्त, परिमार्जित, अनुभवित थी—नाटक लिखना कभी रुचिकर नहीं होता। दूसरी बातें इन नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में भी स्मरण रखने योग्य हैं। इनमें ब्रजभाषा के शब्दों का बाहुल्य है। राजा लक्ष्मणसिंह के नाटकों में भी ब्रजभाषा काव्योपयोगी अप्रचलित शब्द हैं और उर्दू अथवा उस समय की प्रचलित भाषा के शब्दों को जान बूझकर दूर रखने की चेष्टा की गई है। इससे जहाँ भाषा मधुर और शुद्ध हिंदी कहलाने योग्य हो सकी है वहाँ वह जनोपयोगी भाषा से, जिसकी नाटकों में विशेष आवश्यकता और उपयोगिता रहती है, दूर हो गई है, भारतेन्दु बाबू के आदर्श के यह विपरीत बात थी क्योंकि उनका उद्देश्य केवल नाटक लिखना ही नहीं था किंतु अपने पूर्व के लेखकों—जैसे विशेषकर राजा शिवप्रसाद एवं राजा लक्ष्मणसिंह जो कि विरोधी स्कूलों के लेखक थे—की रचनाओं का परिमार्जन कर एक सर्वसम्मत प्रचलित भाषा का प्रादुर्भाव भी करना था। राजा शिवप्रसाद उर्दू मिश्रित, अरबी-फारसी शब्द बाहुल्य युक्त भाषा का प्रयोग करते और राजा लक्ष्मणसिंह अरबी-फारसी शब्द रहित शुद्ध भाषा का। इन दोनों प्रकार की भाषाओं के रूप ग्रहण करना संभव नहीं था यद्यपि वे साहित्यिक हो सकती थीं।

इसलिए जब भारतेंदु बाबू पर एक नाटक-लेखक की दृष्टि से हम विचार करते हैं तब हमें उक्त परिस्थिति एवं उनके उद्देश्य को नहीं भूल जाना चाहिए। भारतेन्दु बाबू तो उस समय के हिन्दी-नाट्य-

साहित्य के समक्ष आदर्श और उदाहरण रख रहे थे जिसका अनुकरण, वृद्धि, विकास करना एवं पूर्ण कलात्मक रूप देना उनके तत्कालीन अन्य लेखकों एवं बाद में होने वाले लेखकों का काम था। उनका उद्देश्य नाटक-लेखन के अतिरिक्त प्रहसन, गीतिरूपक, नाट्यरासक आदि नाटक-प्रकारों के उदाहरण सामने रखने का भी था जिसका अनुकरण उनके बाद के लेखक करें। ऐसी अस्पष्ट भावना अवश्य उनमें थी। इसीलिए विभिन्न प्रकार की नाट्य रचनाएं उन्होंने लिखी और आरम्भ में अनुवाद कीं। जब संस्कृत नाटकों के अनुवाद से भी उनको अपनी इच्छा पूर्ति होते दिखाई नहीं दी तो उन्होंने जहां से और जैसे हो सका हिन्दी-नाट्य साहित्य की पूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया; क्योंकि इस लेखक को, इस सर्वतोमुखी प्रतिभा संपन्न लेखक को जिसके रोम-रोम में भारत और हिन्दी-साहित्य समाया हुआ था इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। वह अपने छोटे से जीवन में हिन्दी-साहित्य को इतना संपन्न कर देना चाहता था कि वह बंग- और पाश्चात्य साहित्य के समकक्ष शीघ्र हो सके और यदि उसीके समान प्रतिभाशाली कुछ लेखक और हुए होते तो अवश्य उसके बाद शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य भी रंक न रह जाता। जिन अभावों के लिए हमें दुःख होता है उनकी पूर्ति बहुत पहिले हो गई होती। इस महान् लेखक ने न केवल नाटक लिखे, अपितु निबंध लिखे, कविता लिखी, इतिहास लिखा, ऐतिहासिक खोज की और उसके वश रहते क्या नहीं किया? इसीलिए भारतेन्दु के अल्पकालीन नन्हें जीवन पर जब हम ध्यान देते हैं तब उनकी रचनाओं में पायेजानेवाले समस्त दोष हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और उसके समक्ष सहसा हमारा मस्तक नत हो जाता है।

भारतेन्दु बाबू की नाट्य रचनाओं पर विचार करते हुए उनकी

रचनाओं में हम शास्त्रीय दोषों को देखकर चौंकें नहीं। संसार के शुरू से यही चला आ रहा है कि प्रथम रचनाओं की सृष्टि होती है, क्रमशः उन्नति होती रहती है और उनके पश्चात् उन्हीं के गुण-दोषों को देखकर, अनुभव कर कतिपय सर्व सम्मत नियमों की जो मानव-प्रकृति और मस्तिष्क के अनुकूल हों, देश काल का जिनमें व्याघात पैदा न हो सके, निर्माण किया जाता है। फिर हिन्दी साहित्य म तो नाट्य-रचनाएँ ही नहीं थीं, शास्त्रीय विवेचन और नियम कहाँ से आते? रंगमंच ही न थे, फिर प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता था? संस्कृत, बंग अथवा आंग्ल भाषा के साहित्यों की ओर लक्ष्य कर हम उनकी रचनाओं में दोषों का प्रादुर्भाव करें यह उचित प्रतीत नहीं होता। संसार की प्रारंभिक अवस्था में जैसा मैं पहिले लिख चुका हूँ और जब कि नाट्य रचनाओं को साहित्यिक रूप भी प्राप्त नहीं हुआ था तब तो लोग रात-रात भर एक-एक दो-दो दिन की ही घटनाओं को देखा करते और संतुष्ट तथा प्रसन्न हुआ करते थे। आज भी गाँवों में ग्राम्यबन्धु साधारण सी घटनाओं के प्रदर्शन, अत्यंत साधारण मनोरंजन (हम नागरिकों की दृष्टि से चाहे विचार किया जाय) के लिये गाते-गाते, अत्यंत साधारण नाटकीय प्रदर्शन करते करते रात-रात भर बिता देते हैं। उनके सामने ही पात्र वेष-भूषा सजते उसे भी पात्र समझ लेते हैं। बालकों में भी यही प्रवृत्ति प्रायः देखी जाती है। यह बाल-प्रवृत्ति के नाम से साहित्य में पुकारी जानी चाहिये और उस समय के उनके द्वारा ही नवोदय साहित्य में यदि इस प्रकार बाल-प्रवृत्ति दिखाई दे तो वह दोष नहीं प्रत्युत विकास की एक प्रारम्भिक अवस्था मानी जानी चाहिये। यह अवश्य है कि भारतेन्दु बाबू ने नाटकों पर निबंध भी लिखा अथवा लिखवाया है; किन्तु यह भी प्रसिद्ध है कि वह निबंध उनका लिखा हुआ नहीं है।

जैसे वे नाटक लिखकर पथ प्रदर्शन करना चाहते थे और नमूने की रचनाएँ उपस्थित करने का ध्येय रखते थे उसी भाँति किसी काशी के पंडित से ऐसी जनश्रुति है कि उन्होंने यह निबंध इसलिये लिखवाया था कि हिन्दी के नाटक लेखकों के समक्ष कतिपय शास्त्रीय नियम भी हों ताकि भविष्य में उनका उपयोग कर वे हिन्दी साहित्य को अधिक पुष्ट कर सकें।

भारतेन्दु के पश्चात् प्रायः प्रत्येक लेखक ने नाटक-लेखन की चेष्टा की। लाला सीताराम ने अनुवाद करने का असफल प्रयास किया, किन्तु हिन्दी साहित्य में उनके पश्चात् एक ऐसी खाई दिखाई देती है जो यह प्रकट करती है कि उनके पश्चात् कुछ अंशों में पं. बदरीनाथ भट्ट को एवं कतिपय स्फुट साहित्य रचनाओं को छोड़कर 'प्रसाद' तक कोई समर्थ और सफल नाटक लेखक नहीं हुआ जिससे हिन्दी नाट्य-साहित्य गौरवान्वित हो सकता। उनके पश्चात् तो विकास के स्थान पर ह्रास होना आरम्भ हो गया। इसीलिये हिन्दी नाट्य-साहित्य का निर्माण बड़े ही अनगिनेक बेढंगे तौर पर हुआ। उनमें विकास की न तो एक धारा मिलती है और न व्यवस्थित रूप ही। आगे पं० बद्रीनाथ भट्ट भी इसीलिये नाट्य-साहित्य की ओर अग्रसर होकर भी उसकी उन्नति न कर सके, विकास के आगे के सोपान पर न पहुँच सके और कम्पनियों के नाटकों का अनुकरण कर केवल एक नन्ही सी परिमार्जित रुचि का दिग्दर्शन करा सके। नाटक लिखने ही के लिये नाटक लिख सके और कला का उज्ज्वल रूप प्रकट न कर सके। इसीलिये 'प्रसाद' सा महान कलाकार भी दृश्य-काव्य की सृष्टि करने जाकर श्रव्य-काव्य की ओर अग्रसर हो गया और ऐसी रचनाएँ हिन्दी साहित्य को दे गया जिनका अनुकरण एक समय तक विकास का विरोधी हुआ। उसका अपना और विशिष्ट स्थान अवश्य रहेगा किन्तु

जिसके आदर्श और अनुकरण पर नाटकों की सृष्टि कम हुई और होगी।

भावों के प्रकाशन के लिये भाषा को क्षमताशाली होना भी आवश्यक है। जब तक भाषा में बल नहीं आता, भाव प्रकाशन का सामर्थ्य पैदा नहीं होता, तब तक कला की चरमाभिव्यक्ति, मनोदशा का यथार्थ चित्रण, आंतरिक, हृदयगत विशिष्टताओं का विश्लेषण, मानवी भावों का स्पष्टीकरण और प्रकटीकरण प्रायः असंभव रहता है। उदाहरणतः श्रद्धेय द्विवेदी जी की रचनाओं पर विचार कीजिये। उनकी कविता, निबंधों एवं भाव प्रकाशन को देखिये और उनकी तुलना आज की उन्हीं बातों से कीजिये तो स्पष्ट पता लगेगा कि उनमें कितना अंतर है। किन्तु द्विवेदी जी ने कितना किस रूप में और किस समय किया, और उनके पहिले की अवस्था का जब हम विचार करते हैं तो हमें उनका महत्व विदित होता है। यही बात भारतेन्दु बाबू के बारे में भी कही जा सकती है। कला की चरमाभिव्यक्ति उनमें नहीं मिलती। बाल शिक्षा और मनोरंजन की प्रवृत्तिएँ ही उनकी रचनाओं में मिलती हैं जो कि स्वाभाविक हैं। टेकनिक की दृष्टि से प्राचीन अथवा आधुनिक—उनमें कई त्रुटिएँ मिलती हैं इसलिये हम यह नहीं कह सकते हैं कि संस्कृतमें इस विषय पर पर्याप्त सामग्री थी, पर्याप्त साहित्य था अथवा पाश्चात्य प्रणालिएँ उन्नत हो गई थीं और उनमें प्रौढ़, विकसित और कलात्मक साहित्य था, और इसीलिये भारतेन्दु दोषी हैं। उन्हें इन प्रणालियों से, नियमों से अनभिज्ञ ठहरावें। अन्य भाषाओं में साहित्य और शास्त्रीय नियमों के होते हुए भी स्वभाषा में उनका उपयोग और सामंजस्य सहसा और शीघ्र हो जाना संभव नहीं होता। यदि कोई लेखक करना चाहे तो उसका उस समय का प्रयत्न बेकार सा सिद्ध होता है जिसे कहीं से प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता इनका सर्वथा ग्रहण एकदम नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा हो सके तो

विकार जिसे हम कहते हैं उसका अस्तित्व ही मिट जावे। अतएव इन सब त्रुटियों पर केवल इसलिये विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि उस समय आंग्ल अथवा बंग साहित्य काफी उन्नत हो चुका था तो उनके पाठकों के विचार-स्तर भी काफी ऊँचे उठ चुके थे। उस समय हिन्दी में तो पाठकों की ही कमी थी। हाँ, उनमें नवीन साहित्य के प्रचार के कारण वृद्धि अवश्य हो रही थी। इसलिये हमें भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य का विश्लेषण करते समय उनमें पाई जानेवाली प्रवृत्तियाँ ही देखना चाहिये और यह कि वे कितनी स्वाभाविक, सामयिक और विकासानुगामी हैं।

बालकों में स्वभावतः ही यह देखा जाता है कि वे साधारण, निम्न-कोटि की बातों से ही अधिक प्रसन्न होते हैं। उन्हें साधारण मनोरंजन और खिलवाड़ की ही आवश्यकता होती है। विशेषकर ऐसे मनोरंजन और अनुकरण अथवा नकल की बातों को जिन्हें वे संसार में पाते हैं, जब वे अभिनय में देखते हैं तो प्रसन्न हो उठते हैं। संसार के आद्य-काल से साहित्य की यही बाल्यावस्था रही है और किसी भी साहित्य में यह देखी जा सकती है। साहित्य की यही बाल्यावस्था हमें भारतेन्दु बाबू में भी प्राप्त होती है। धीरे-धीरे जैसे बालक बड़ा होता जाता है उसमें शिक्षात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती जाती है। उसी प्रकार साहित्य में भी शिक्षात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। साहित्य की इस अवस्था में कलात्मक प्रवृत्ति, अविकसित, अस्पष्ट होती है; विद्यमान वह अवश्य रहती है। इसीलिए भारतेन्दु बाबू के नाट्य-साहित्य में बाल-मनोरंजन एवं शिक्षा की प्रवृत्ति अविकसित और अस्पष्ट है। यह एक आश्चर्य की बात है कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के आदि प्रवर्तक होते हुए भी कलात्मक प्रवृत्ति उनमें इतनी अधिक पाई जाती है। कदाचित् इसका कारण, अंश उनकी प्रतिभा

और संस्कृत एवं बंग-साहित्य के अनुशीलन की है ।

किसी भी सहित्य के प्रारम्भ में एक बात और देखी जाती है और वह यह है कि उसके प्रवर्तक इस समय बाह्यरूप का ही चित्रण करते हैं या कर सकते हैं। भारतेन्दु जी ने भी यही किया है। इसका होना सर्वथा स्वाभाविक है, दोष नहीं।

भारतेन्दु बाबू में इन्हीं प्रवृत्तियों के समान स्व-विचार-प्रकाशन की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्यकला की विवेचना

'प्रसाद' के पश्चात् मिश्रजी में हमें एक बड़ी तीव्र, बलवती विचार-धारा, एक वेदना मिश्रित तिलमिलाहट, समाज और परिस्थितियों के प्रति एक मार्मिक किंतु गंभीर व्यंग मिलता है। मिश्रजी ने हिंदी-साहित्य में सबसे पहिले पाश्चात्य प्रणाली, न केवल बाह्य या टेकनिक संबन्धी, किंतु आंतरिक, चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी भी एवं अन्य समस्याओं, जीवन की विषमताओं, भारतीय जीवन में उठने वाली सामाजिक और साहित्यिक क्रांतियों को भी आधुनिकतम रूप में रखा है। इसमें संदेह नहीं यदि मिश्रजी के नाटकों को खेले जाने का सुयोग मिलता तो आज से कई वर्ष पहिले हिंदी-साहित्य-समाज में एक घोर क्रांति की उद्भावना हो जाती और मिश्रजी का अनुकरण तरुण समाज में जीवन और बल प्रदान करता। आज तो शायद हम मिश्रजी की बात सुनने के लिए भी तैयार हैं किंतु उस समय तो हमने मिश्रजी का बहिष्कार कर दिया होता। मिश्रजी के नाटकों का अधिक और व्यापक प्रचार नहीं हुआ, इसका कारण यही रहा कि एक तो हिंदी का कोई मंच नहीं, दूसरे उनकी भाषा जितनी वेगवती उनकी भूमिकाओं में उनसे व्यक्त हो सकी है उसका दशमांश भी हमें उनके नाटकों में नहीं मिलता। रुक जाने की शैली भी उनकी स्पष्ट और नाटकीय कला की दृष्टि से भाव-व्यंजक नहीं। तीसरे हमने मिश्रजी में जो खूबी, जो व्यंग, जो मार्मिकता, जो कचोट, बेचैनी, तिलमिलाहट, जो आवेग, जो क्रांति, जो भावप्रवणता, जो उथल-पुथल, जो

संघर्ष और अंतर्द्वंद है उन्हें पहिचाना नहीं है। इस लेखक को शायद हम समझ ही नहीं पाये हैं। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि मिश्रजी को स्टेज पर स्थान मिले तो कतिपय संशोधनों एवं स्टेज की आवश्यकताओं का ध्यान रखने पर भी उनकी कृतिएँ एक मानसिक क्रांति, एक अभूतपूर्व लहर पैदा करने में समर्थ हैं।

इसकी तरफ हमारा ध्यान न जाने का कारण यह भी हो सकता है कि इसने पाश्चात्य जीवन का अनुकरण किया है। इसने पाश्चात्य प्रणालियों एवं शैलियों तथा आधुनिकतम विचार-धाराओं का अनुकरण तो किया है किंतु वह नकल नहीं है, सफल अनुकरण है, शुद्ध भारतीय है। आवरण अवश्य पाश्चात्य दिखाई देता है किंतु आत्मा शुद्ध भारतीय ही है।

यहाँ पर यह लिखना भी अप्रासंगिक नहीं होगा की इस भावनाओं के नाटक लेखक पर भी असहयोग एवं अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों का काफी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पड़ा है। वह एक ऐसी लहर थी जिसने देश भर में एक जीवन जगा दिया था। इसमें संदेह नहीं १९२० के पहिले भी काफी राष्ट्रीय जाग्रति हो गई थी किंतु वह सीमित थी और उसमें भी ज्यादातर, सैद्धान्तिक थी। क्रियात्मक उतनी नहीं थी। १९२० के पश्चात् एक बार सारे देश में 'एक वर्ष में स्वराज्य' का संदेश पहुँच गया था। लोगों में जाग्रति बिजली के समान फैल गई थी। रामराज्य के स्वप्न भारतवासी देखने लगे थे, एक बार सन् सत्तावन के पश्चात् उन्होंने समझा था कि हम मुक्त हो सकेंगे। पराधीनता से अपना पीछा छुड़ा सकेंगे। इसके पहिले जनता का ध्येय सामाजिक सुधारों की ओर ही था किंतु इसके पश्चात् कुछ समय तक वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रही और उसमें धीरे-धीरे आत्मिक बल का संचय और वृद्धि होती रही। इसके साथ ही जब

बाद्य आंदोलन अथवा युद्ध बन्द हुआ तो देश का काया पलट हो गया था। पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सब धाराएँ—सब प्रकार की नवीन धाराएँ सहस्रों मुखी हो फूट पड़ीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जाग्रति के चिन्ह नजर आने लगे। जीवन पर प्रत्येक दृष्टि कोण से विचार किया जाने लगा। आंदोलन अथवा युद्ध तो बन्द हो गया किंतु उसका प्रभाव भारतीय मस्तिष्क पर काफी पड़ा और वह प्रभाव साहित्य की अनेक धाराओं में से वह निकला और आज भी बह रहा है। निकट भविष्य में भी बहता जायगा। इतनी प्रचुर सामग्री उस लहर ने भारत को, भारतीय मस्तिष्क को, प्रतिभा को, लेखकों, साहित्यिकों एवं कलाकारों को दी है। यद्यपि आज का लेखक चाहे यह स्वीकार न करे कि उस पर क्रांति—का जो अब तक हो रही है और जब तक महात्माजी जीवित हैं तब तक चलती रहेगी, असर पड़ा है, क्योंकि उसके परोक्ष भाव का अनुभव वह नहीं कर रहा है किंतु उस लहर ने जो कण भारतीय वातावरण में फैला दिये हैं वे उड़-उड़ कर उसकी प्रत्येक स्वाँस के साथ उसके हृदय को स्वच्छ और उसके मस्तिष्क को उर्वर बना रहे हैं। उसकी वाणी में जोश, उसकी कार्य प्रणाली में त्याग, उसकी आत्मा मे रोष, द्वंद, उस द्वंद से लड़ने की ताकत, सत्य के प्रति आग्रह, युद्ध की भावना, विद्रोह की भावना और जनता-जनार्दन तक पहुँचने की आकांक्षा उसी क्रांति के कणों द्वारा हममें जाग्रत हुई है।

इसी प्रकार न केवल जीवन के किंतु साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में भी वे कण फूट निकले हैं। जब 'प्रसाद' से लेखक में उनका प्रभाव अंकित होता है तो मिश्रजी सदृश सामयिक समस्याओं पर लिखने-वाले लेखक पर उसका प्रभाव न पड़ता यह संभव नहीं था। मिश्रजी के नाटकों में तो कई रूप में वह पड़ा है; राष्ट्रीय, सामाजिक,

धार्मिक, पाश्चात्य शैली एवं विचारों सम्बन्धी। मिश्रजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि कलाकार को अपने युग की जिंदगी बिताना चाहिए।

इस दृष्टि से लेखक बड़ा सौभाग्यशाली है कि इसने सामयिक घटनाओं और पात्रों को, वातावरण को अपने नाटकों में स्थान दिया है। तत्कालीन परिस्थितियों एवं पात्रों का चित्रण जितना सरल है उतना ही कठिन भी है। इनके चित्रण के लिये मस्तिष्क का परिष्कृत एवं निष्पक्ष होना, हृदय का सरल, निष्कपट और सब के लिये सहानुभूति एवं समवेदना पूर्ण होना, दृष्टिकोण का व्यापक होना, लेखक की सूक्ष्म दृष्टि का होना, उसमें अवलोकन और ग्रहण करने की शक्तियों का होना अत्यंत आवश्यक है। ये बातें जितनी ही उसमें अधिक होंगी वह उतना ही सफल लेखक अथवा कलाकार हो सकता है। सामयिकता को प्रकट कर देना अभिशाप नहीं है जैसा कि कतिपय कलाकार सोचा करते हैं। प्रत्येक कलाकार, साहित्यिक अथवा लेखक को अपने युग की जिंदगी तो बितानी ही पड़ती है। जिस युग में वह खेलता-कूदता, पढ़ता-लिखता, विचार-विनिमय करता उसका प्रभाव उस पर न पड़े यह संभव नहीं। वह कल्पना की उड़ानें कितनी ही भरता रहे किंतु उसकी कल्पना का आधार वही युग, उस युग की घटनाएँ, वातावरण एवं भावनाएँ और अनुभूतियाँ ही रहेंगी। हाँ, चूँकि उसमें ग्रहण शक्ति बड़ी तीव्र होती या जितनी तीव्र होती है उसके अनुसार वह युग से जल्दी से जल्दी भावनाएँ, विचार धाराएँ ग्रहण कर लेता है और उसकी प्रतिभा एक सुन्दर सुव्यवस्थित और सुचिंतित रूप में उन्हें प्रकट कर देती है। अन्य साधारण एवं निम्न कोटि के लेखकों को इसी मनोवैज्ञानिक क्रिया में ग्रहण एवं प्रकटीकरण में—काफी

समय लग जाता है। कभी कभी अन्य कारण भी ऐसे आ जाते हैं जिनसे इनमें व्यवधान अथवा व्याघात पड़ सकता है, किंतु इनके कारण लेखक का महत्व कम नहीं होता यदि वह उस समय तक की विचार-धारा से पहिली का उचित समन्वय कराकर अपने को व्यक्त करे।

काल विशेष के पात्र, परिस्थितिएँ एवं वातावरण प्रभावित भी अधिक करते हैं। वे रोचक भी अधिक होते हैं क्योंकि इनके द्वारा मनुष्य अपने को ही देखते हैं। हमारे गुण दोषों का विवेचन हम निष्पक्ष होकर कला-प्रदर्शन के जरिये देख सकते हैं। कभी-कभी हमें अपनी बुराइयों पर क्रोध भी आ जाता है। एक खीझ और झल्लाहट हम में पैदा होती है। विशेष कर तब जब कि उक्त कला प्रदर्शन में हमारा जातीय सामाजिक राष्ट्रीय अथवा एकांगी चित्रण हो। इसलिये आधुनिक चित्रण के कलाकार को बड़ा सतर्क रहना चाहिए और उसे समदृष्टि तथा निष्पक्ष होना चाहिए। उसके लिए केवल कला की ही दृष्टि से लिखना श्रेयस्कर है। जहाँ तक हो सके वहाँ तक समस्याएँ तो रखे उसके हल भी वह रख सकता है किंतु उनका हल अन्तिम रूप में न रखे, यही उसके लिये उत्तम होगा। फिर भी उसकी प्रतिभा के लिये कला के लिए कोई इस प्रकार का बंधन नहीं निर्धारित किया जा सकता है।

एक समय था जब हिंदी की प्रगति का प्रारंभिक काल भारतेन्दु के बाद भी आया और तब हमने अपने प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों की ओर ध्यान दिया और अपनी नाटकीय सामग्री के लिये उनसे मसाला इकट्ठा किया। जनता में उनकी रुचि भी काफी रही। लोगों ने 'महाभारत', 'अभिमन्यु', 'तिलोत्तमा' आदि नाटक पढ़कर आत्म-तुष्टि की। 'कृष्णार्जुन' और 'परमात्मा' के सफल अभिनय देखकर

वे मुग्ध हुए। फिर इनसे जब कम तृप्ति का आभास मिलने लगा तो हमने पुराणों की ओर से इतिहास की ओर आना प्रारंभ किया। 'दुर्गावती' 'महाराणा प्रताप' आदि हमारे सफल नाटकों में समझे गये। ऐतिहासिक नाटकों में सबसे सफल और उत्तम प्रयास 'प्रसाद' का है। प्रसाद की नाटकीय कला में हमने सबसे पहिले इतिहास के गंभीर और मौलिक अध्ययन की प्रवृत्ति प्रचुर और श्रेयस्कर रूप में पाई है।

इधर सेठ गोविंददासजी ने भी ऐतिहासिक नाटकों का सुन्दर रूप हमारे सामने रखा है। इनके अतिरिक्त हमारी तुच्छ सम्मति में किसी ने ऐतिहासिक सामग्री का सुन्दर उपयोग नहीं किया है। उदयशंकर भट्ट का प्रयत्न सफल प्रयत्न को छूता हुआ नहीं दिखाई देता।

कहने का आशय यह है कि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों (साहित्य) के पढ़ने से जब हम ऊब से जाते हैं तब सामयिक और सामाजिक नाटकों के प्रादुर्भाव की आकांक्षा स्वभावतः हम में जाग्रत होती है। पौराणिक कथाओं में अब इतनी शक्ति नहीं रही कि वे हमें प्रभावित कर सकें। इतिहास के अध्ययन की ओर से अब रुचि हटती-सी जा रही है। आज के कवि, कलाकार, साहित्यिक से आधुनिक युग जीवन का संपर्क, संघर्ष, जीवन का समन्वय और विश्लेषण जीवन की समता और विषमता चाहता है।

पौराणिक आख्यानों को इतने दीर्घकाल ने अब हमारे वर्तमान संघर्षों और जीवन से बहुत दूर फेंक दिया है। हम उस युग की विषमताओं को हमारे उस पूर्व युग के गौरव को स्वीकार तो करते हैं किंतु वह हममें उतना स्पन्दन, कंपन पैदा नहीं करता। कई ऐसे प्रबल कारण उत्पन्न हो गये हैं जिनसे इतिहास से भी हम वैराग्य-सा हो गया है। इस विराग का प्रभाव हमारे जीवन पर भी काफी पड़ा

है। ऐतिहासिक या सुदूर ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे जीवन में धक्के भले ही दे दें, उनसे हमें कुछ प्रेरणा एवं उत्तेजना भी मिल जाय किन्तु वे हमारी आज की समस्याओं पर चुप हैं। समस्याएँ, जीवन की विषमताएँ आज बढ़ती जा रही हैं। बहुमुखी हो रही हैं। कुछ अंशों में इतिहास की पुनरावृत्ति के सिद्धांत को झुठा कर रही है। ऐसी परिस्थिति में मिश्रजी ने सामयिकता को अपनाकर हिंदी नाट्य-साहित्य में नव जीवन, नव विचार धारा, एक नवीन प्रणाली की सृष्टि कर उसका कल्याण किया है। उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में हमारे युग के मापदंड के लिये जो प्रेमचन्दजी ने कार्य किया वही कार्य मिश्रजी द्वारा भी नाट्य क्षेत्र में सम्भव होता यदि इसमें कतिपय भाव प्रकाश-संबन्धी दोष न आ गये होते और इस लेखक ने एक व्यवस्थित और जोरदार भाषा उस विचार धारा के व्यक्त करने के पहिले प्राप्त करली होती। जितनी तीव्र विचार धारा का प्रवाह मिश्रजी में हमें मिलता है उसके योग्य उसे अभिधान पहिनाने में लेखक ने प्रयत्न शायद जान बूझकर नहीं किया है। मिश्रजी में हमें हमारे युग की समस्याएँ, माँगें, व्यक्तीकरण, संघर्ष सामाजिक और जातीय दोनों ही बड़े तीव्र रूप में मिलते हैं। दुःख इतना ही है कि इसके नाटकों के अभिनय देखने का अवसर नहीं आया ताकि समुचित रूप से उनका परीक्षण हो सकता।

मिश्रजी में एक दोष भी है जो शायद आगे जाकर निकल जाये। वह यह कि उनकी रचनाओं में कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का ही चित्रण हुआ है। जीवन के कुछ ही अंगों पर प्रकाश डाला गया है। जीवन के विभिन्न और सब प्रकार के पात्रों का समावेश अब तक मिश्रजी से नहीं हो सका है। इसी प्रकार निम्न श्रेणी के पात्रों के चित्रण का प्रायः अभाव है। उनके सब पात्र प्रायः जमींदार, धनवान

तथा प्रोफेसर हैं। शायद वे इस अपूर्ण जीवन को पूर्ण करने की चेष्टा करें। इसीलिये जहाँ वे जीवन का संपर्क कला के लिये आवश्यक मानते हैं वहाँ संपूर्ण जीवन तक अवस्था के कम होने के कारण अभी तक नहीं पहुँच पाये हैं। अभी तक कॉलेज जीवन का प्रभाव लक्षित होता है। वे स्वयं मानते हैं कि कलाकार में विश्व की व्यापक भावनाएँ होना चाहिए; किन्तु उनमें अभी वे व्यापक भावनाएँ नहीं आ पाई हैं। एक विशेष स्थल पर टिके हुए अथवा शिक्षित समुदाय में प्रकट होनेवाली विषमताओं का ही प्रदर्शन है।

कहा जाता है कि बरनर्डशा के अनुकरण पर मिश्रजी ने रचनाएँ की हैं क्योंकि उनकी कथा वस्तुएँ राजनीतिक और सामाजिक हैं। उनमें कटु व्यंग और परिहास है। किन्तु दोनों की रचनाओं के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें केवल बरनर्डशा का ही अनुकरण नहीं है (यद्यपि इस अति प्रसिद्ध और एक आधुनिक उच्च कोटि के नाट्यकार का अनुकरण बुरा नहीं) किन्तु पाश्चात्य शैली, भावों, समस्याओं, घटनाओं और वस्तु-प्रदर्शनों का भी अनुकरण एवं भारतीयकरण मिलता है। पाश्चात्य नाटक विशेष कर सामाजिक और राजनीतिक आज जिस स्तर पर हैं मिश्रजी ने हिन्दी नाट्य साहित्य को उसी स्तर पर रखने की किन्हीं अंशों में सफल चेष्टा की है और इसीलिये उनकी कथावस्तु, समस्याएँ और पात्र ऐसे होते हैं जो उच्च, शिक्षित, जमींदार, धनी वर्ग ही में, विशेष कर बड़े-बड़े शहरों के वातावरण में पाये जाते हैं। अभी तक मिश्रजी की पहुँच और दृष्टि इन्हीं तक सीमित रही है और इन्हीं का चित्रण उन्होंने किया है। इसी कारण उनमें कतिपय ऐसी समस्याएँ आ गई हैं जो आगे यूरोप और अमेरिका के समान भारत में भी उठनेवाली हैं, चाहे मिश्रजी ने जैसा सोचा हो उसके अनुरूप वे न होवें। उन्होंने अपनी

कल्पना के आधार पर, पाश्चात्य समस्याओं पर विचार कर भारत में उनका आधार कितना ग्राह्य हो सकता है इसके आधार पर आपने कुछ हल भी निकाले हैं। वे कहाँ तक सत्य होंगे यह भविष्य ही बतायेगा।

मिश्रजी में कई दोषों के बावजूद भी जो एक सबसे बड़ी बात पाई जाती है वह है उनकी सजीवता। लेखक में जीवन, यौवन, छटपटाहट, संघर्ष, द्वन्द्व, विचार धारा बड़ी तीव्रता से दौड़ती है। उनके जीवन का वह रस अपनी रचनाओं में जहाँ तक हो सका है वह पूर्णतया ढाल सका है। इसीलिये उसकी कथावस्तु पौराणिक तथा ऐतिहासिक न होकर सामाजिक और राजनीतिक है। यद्यपि जीवन के बहुत कम अंगों का चित्रण वह अभी तक कर पाया है किन्तु जितने सीमित क्षेत्रवाले जीवन का उसने चित्रण किया है उसमें उसके जीवन की सजगता, ओज, संघर्ष और द्वन्द्व, विषमताएं और जीवन-समन्वय भी पाया जाता है। वह स्वयं लिखता है, "जिसे जीवन की कल्पना करनी है—जीवन का निर्माण करना है—जीवन की अभि-व्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ सकता। जिन सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के भीतर हमारी आत्मा आज छटपटा रही है, यदि हम चाहें भी तो उनका समावेश इतिहास के महान् चरित्रों में नहीं करा सकते। इस कारण हमें हार कर सामा-जिक चरित्रों की कल्पना करनी पड़ेगी।" लेखक ने ईमानदारी, सच्चाई और अपनी योग्यता एवं मानसिक विकास के जिस स्तर पर वह था वहाँ तक यही किया है। इसीलिये उसने ऐसे पात्रों के "उन चरित्रों की जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धड़कन में मिल सके" सृष्टि की है। लेखक ने रोम्याँ रोलाँ के कथन का अवतरण दिया है। "प्रेम और कला के विषय में दूसरों से क्या कहा है यह पढ़ना व्यर्थ

है। हम वही कह सकते हैं जो हम अनुभव करें और वे जो जल्दी कर बैठते हैं कुछ भी नहीं कर पाते।" इसमें मैं लेखक से बड़े अक्षरों को छोड़कर शेष से सहमत हूँ। बड़े अक्षरों के संबंध में यही है कि लेखक कुछ कह भी पाया है। अपने को, अपनी कला और विचार-धारा को व्यक्त भी कर पाया है।

"कला का निर्माण कला के लिये" और सोद्देश्य लेखन में [illegible] हैं तो कोई अन्तर नहीं होता। केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर रह जाता है। देखने से यह अवश्य मालूम पड़ता है कि लेखक ने प्रेमचन्द के समान सोद्देश्य लिखा है, किन्तु सूक्ष्म अवलोकन के आधार पर यथातथ्य चित्रण जिसमें लेखक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे भी भाग न लेवे, 'कला कला के लिये' की ही श्रेणी में आ जाता है। इस दशा में भी लेखक सोद्देश्य रचता हुआ भी जीवन का पूरा सानिध्य प्राप्त कर लेता है। मिश्रजी से ऐसा ही हुआ है।

मिश्रजी पर जो पाश्चात्य समस्याओं का प्रभाव पड़ा है, जो भारतीय वातावरण में अभी तक अत्यल्प रूपमें ही आई हैं और जो शिक्षित समाज एक विशिष्ट समूह में ही सीमित है, उन पर उन्होंने विचार करना अभी से प्रारम्भ कर दिया है। ये समस्याएँ निकट भविष्य में ही अपने तीव्रातितीव्र रूपमें हमारे समक्ष आनेवाली हैं। मिश्रजी ने इन्हें ठीक समय पर ग्रहण कर उनका भारतीयकरण किया है और एक साहित्यिक को किस प्रकार तात्कालिक परिस्थितियों से आगे बढ़ कर पथ-प्रदर्शन करना चाहिये इसका आदर्श हमारे सामने रखा है। कलाकार एक बड़ा भावुक और ग्रहणशील हृदय लिये रहता है तथा युग की समस्याओं को जो उस समय रहती हैं और जो भविष्य का आभास देती हैं या भविष्य में सामने आनेवाली होती हैं उन पर

प्रकाश डालता है। मिश्र जी ने यही किया है।

लेखक ने सोद्देश्य लिखा है। उसके निश्चित सिद्धान्त हैं और वह अपने को कलाकार नहीं तत्त्वदर्शी कलाकार कहता है। उसकी रचनाओं, कथाओं में उसका चिंतन है; किन्तु अभी वह उच्च कोटि का नहीं हो पाया है। उसके चिंतन में कतिपय दोष भी हैं। उसने समस्याओं के हल केवल समझौते के ही रूप में रखे हैं। जीवन में इनका महत्त्व अवश्य है किन्तु प्रायः इनके विरुद्ध होता है। समस्याएँ जीवन के अभावों को कम कर सकती हैं, जीवन को परिधि में बाँधे रह सकती हैं, किन्हीं अंशों में सुख और आनन्द की सृष्टि भी करती हैं। जीवन को महत् और पूर्ण बना सकती हैं किन्तु ऐसा होता नहीं। क्यों ऐसा होता नहीं? इनके स्थान पर विषमताओं और जटिलताओं की सृष्टि क्यों हुआ करती है? मनुष्य जान कर भी इनमें क्यों फँसता जाता है और अन्त में इनमें से निकलने में क्यों असमर्थ पाता है? वह जीवन में समझौता—जिसका करना उसके लिये अनिवार्य और आवश्यक होता है—क्यों नहीं कर लेता? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका विवेचन उस तत्त्वदर्शी कलाकार को करना चाहिये। लेखक ने इन्हीं के विवेचन के लिये पाश्चात्य ढंग पर मनुष्य में देवता और राक्षस की सृष्टि की है। कभी देवता उसका पथ-प्रदर्शन करता है और कभी राक्षस। कभी सद्वृत्ति उसमें जाग्रत होती है और कभी असत्।

प्रेमचन्द के समान इस लेखक की भी एक बड़ी भारी त्रुटि है—वह यह कि उसके कथा-नायक [illegible] निकालता है—कोठे की [illegible] और वहाँ से वह सफलता, अश्लीलता और सुन्दरता के साथ निकल आता है। क्षुद्र कोटि के लेखकों के समान वह कोरा जिन्दगी के धक्के, प्रेम का उन्माद नहीं देता। उनमें जीवन का सार भाग, सुन्दरता और गौरव

की सृष्टि करता है। ऐसे स्थलों को, कुछ क्षीण अश्लीलता के होते हुए भी वह महत् बना जाता है। अपने आदर्श और उद्देश्य से गिरता नहीं।

लेखक का जो उद्देश्य उसकी रचनाओं में है वह उसी के शब्दों में पूर्णतया व्यक्त हो जाता है। इसलिये उसके उद्धरण देना अच्छा है। वह लिखता है, "मैंने जो अनुभव किया है, देखा है उसे······ नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ—ज्यों का त्यों—ईमानदारी के साथ।" चरित्रों के संबंध में, 'मैंने अपने चरित्रों को यथाशक्ति जीवन के अनुकूल बनाया है। उनके हँसने में और उनके रोने में तुम्हें अपने जीवन की बातें मिलेंगी।" 'मैंने जानबूझ कर मनोरंजन के लिये या धोखा देने के लिये किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को [illegible] पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ। मैंने उन्हें देखा है और समझा है—उनकी सभी बातों को, उनकी सारी जिंदगी को।" "हमारा-तुम्हारा या सब किसी का सत्य इसमें नहीं है कि हम सब क्या थे या क्या हैं? बल्कि इसमें है कि हम सब क्या होंगे? हमारा सत्य हमारे भविष्य में है।" "जहाँ मुझे विश्वास नहीं हो सका, वहाँ मैंने अविश्वास प्रकट किया।" "मैंने विद्रोह करने के लिये विद्रोह नहीं किया है।" "पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श, पश्चिमी जीवन हमारे रक्त में विषैले कीटाणुओं की तरह प्रवेश कर हमें अशान्त बना रहे हैं—हम समझते हैं विकास हो रहा है।"

सेठ गोविन्ददास के 'तीन नाटक' पर एक दृष्टि

आधुनिक नाटक-लेखकों में नाटक के बाह्य उपकरणों का जिन्होंने सतर्कता एवं अनुभव सहित ध्यान दिया है उनमें सेठ गोविन्ददास का एक प्रमुख और विशेष स्थान होना चाहिए। उनके कथन द्वारा उनकी रचनाएँ कुछ ही दिनों में लिखी हुई कृतिएँ हैं जो पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य-साहित्य के अध्ययन का परिणाम हैं। किन्तु इन पंक्तियों का लेखक उनके इस कथन से पूर्णतया सहमत नहीं है, क्योंकि सेठजी ने नाटकीय बाह्य उपकरण तो पाश्चात्य लिए हैं किन्तु पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के आन्तरिक स्रोतों, युग की मूल भावनाओं, उनका व्यक्तीकरण, जीवन के प्रति, समाज के प्रति व्यंग्य, सजगता एवं जीवन की [illegible] शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक संघर्ष, [illegible] करने में जैसी सफलता उन्हें मिलना चाहिए वैसी नहीं मिली है। शास्त्रीय या आलोचनात्मक ग्रन्थों के अध्ययन की अपेक्षा तद्विषयक नाट्य-साहित्य—का अध्ययन उस विषय के कलाकार अथवा लेखक के लिए अधिक आवश्यक है। कदाचित इसीलिए नाट्य-शास्त्रीय टेकनिक का ध्यान रख कर भी वे अपनी रचनाओं में सत्यता से अपने को व्यक्त नहीं कर सके हैं।

सेठजी की रचनाएँ हमारे समक्ष एक गंभीर समस्या भी विचारार्थ उपस्थित करती हैं। वे ये कि चित्रपट और नाटक एक ही वस्तु हैं अथवा भिन्न-भिन्न। ये दोनों कलाएँ जो सगी बहिनें हैं अथवा जुड़वाँ बहिनें हैं वास्तव में एक नहीं हैं और चूँकि इनमें साम्य अत्यधिक

एवं भिन्नता कम है इनका अन्तर अवश्य एक कलाकार को ध्यान में रखना होगा।

दोनों कलाओं में चरित्र-चित्रण और हाव-भाव की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। दोनों अवास्तविक को वास्तविक दिखाने की चेष्टा करती हैं। नट अथवा पात्रों का प्रयोग दोनों में होता है। किन्तु क्षेत्र एवं साधनों की दृष्टि से दोनों में महान अन्तर दिखाई देता है। नाटक का क्षेत्र संकुचित और साधन कम रहते हैं जहाँ चित्रपट के लिए क्षेत्र विस्तृत और कला प्रदर्शन के साधन अनेक रहते हैं, यद्यपि इनमें भी कई दृश्य दुस्साध्य अथवा कठिन होते हैं। चित्रपट पर चूँकि उसका क्षेत्र विस्तृत रहता है सब प्रकार के दृश्य जो संभव हों तथा कतिपय मानव की सत्यसृष्टि में जो असंभव हों दिखाये जा सकते हैं किन्तु स्टेज पर कतिपय विशिष्ट दृश्य दिखाना ही संभव हो सकता है और वे भी केवल पर्दों अथवा संकुचित क्षेत्र में अन्य उपकरणों के प्रबन्ध द्वारा। इसीलिए अभिनय कला की सफलता के लिए प्राचीन समय से अब तक बंधनों और सीमाओं की सृष्टि हुई और इस कला पर कई प्रकार के अंकुश लगाये गये ताकि जो नहीं है, वह है ऐसा दिखाई दे सके। चित्रपट में भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ हैं और विभिन्न प्रकार की कला कुशलताओं की अनिवार्य आवश्यकता होती है किन्तु क्षेत्र विस्तृत होने से इस कला के द्वारा दिखाना जो अभीष्ट होता है वह दिखाया जा सकता है किन्तु रंग-मंच पर कितनी भी कुशलता के द्वारा कई दृश्य ऐसे रह ही जाते हैं जो दिखाये नहीं जा सकते। फिर उन दृश्यों के प्रबंध के लिए चित्रपट में समय भी अपरिमित रहता है। स्वतंत्रता से समयानुसार, फोटोग्राफी आदि की कला की सहायता द्वारा समय के व्यवधान से भी कई दृश्य और प्रकरण दिखाये जा सकते हैं किन्तु रंग-मंच पर इनका दिखाना दुस्साध्य, प्रायः असम्भव

रहता है। चित्रपट में सामग्री, समय और सुविधानुसार जमा कर मिला ली जा सकती है किन्तु रंग-मंच पर चूँकि समय कम रहता है यदि वही सामग्री दृश्यों के प्रदर्शन के लिए जमाई जावे तो समय अधिक लगे अथवा कथोपकथन या दृश्यों को अत्यधिक बढ़ाना पड़ेगा। इन्हीं कारणों से दोनो कलाओं की कथा-वस्तु के उद्गम एक ही स्थान से होने पर भी एक थोड़ी ही दूरी से वे भिन्न भिन्न होती चली जाती हैं; सिंधु और ब्रह्मपुत्र के समान। एक अरब सागर में गिरती है तो दूसरी बंगालसागर में। अन्तिम लक्ष्य भी दोनों का एक ही रहता है। आरम्भ तथा मध्य भिन्न रहता है यद्यपि कहीं-कहीं ये कलाएँ एक दूसरी से मिलती हुई नजर आती है।

जब इन दृष्टियों से हम 'तीन नाटक' पर विचार करते हैं तब हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सेठजी की रचनाओं में नाटकीय तत्वों की अपेक्षा सिनेमा के तत्वों का अधिक प्रयोग हुआ है एवं सिनेमा की परिस्थितियों, क्षेत्रों एवं समय का ध्यान रखकर एवं इसी आदर्श एवं इनके ही अवलोकन पर 'तीन नाटक' की सृष्टि की गई है। दृश्यों का संघटन, कथावस्तु का प्रवाह, प्रारंभ और अन्त प्रायः सिनेमा की ही आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त हैं। इसी प्रकार से नाटकों के पात्रों, रंगमंच एवं ड्रेस तथा अन्य उपकरणों के लिये जो संकेत हैं उनमें भी सिनेमा का ही दृष्टि कोण प्रतीत होता है। उनका 'कर्तव्य' या तो 'सीता' चित्रपट की छाया है अथवा 'सीता' चित्रपट 'कर्तव्य' के आधार पर लिया गया सा प्रतीत होता है। दोनों की कथावस्तुएँ पात्र, मूकाभिनयादि के दृश्य, रास्ते में यात्रियों के वार्तालाप प्रायः समान हैं। इसी प्रकार से 'प्रकाश' का प्रथम दृश्य भी एक चित्रपट के आधार पर अथवा वह चित्रपट 'प्रकाश' के आधार पर तैयार किया गया है। इसी प्रकार अन्य कई दृश्यों में एवं उनके प्रबन्धों में सिनेमा-

कला अधिक दृष्टि गोचर होती है। अतः हमें ध्यान रखना ही होगा कि इन दोनों कलाओं में विशेष कर कथावस्तु के मुख एवं चरित्र में साम्य होते हुए भी वे दोनों एक नहीं, पृथक्-पृथक हैं। दोनों की आवश्यकताएँ किन्हीं अंशों में एक और किन्हीं में भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा ज्ञात होता है दोनों स्थानों पर प्रयुक्त किये जा सकें इसलिये सेठजी ने इन नाटकों को यह रूप दिया है। इन दृष्टियों से इनका 'हर्ष' इन तीन नाटकों में सर्व श्रेष्ठ है। उसमें 'प्रसाद' का अनुकरण है किंतु दुरूहता नहीं। प्रसाद द्वारा निर्मित एवं प्रयुक्त शब्द-प्रयोग है किंतु उनकी भाषा नहीं। 'प्रसाद' के कथा है किंतु गंभीरता नहीं, इसलिए वह अभिनय योग्य नाटकों की श्रेणी में आ जाता है।

जितनी शीघ्रता से ये नाटक लिखे गये हैं उतनी शीघ्रता इनमें न की जानी चाहिए थी ताकि कथावस्तु का प्रयोग एवं प्रबन्ध योग्य और समुचित हो सकता। इसलिए कहीं-कहीं लेखक की कला शिथिलता का परिचय स्पष्ट रूप से न केवल समालोचकों को किंतु साधारण पाठकों एवं प्रेक्षकों को भी हो जाता है। विशेष रूप से उनके यात्रियों एवं राहगीरों के कथोपकथन, जो स्पष्ट रूप से कथावस्तु के पूर्त्यर्थ प्रयुक्त हुए हैं और सब नाटकों में, कथा पूर्ति के मेरी दृष्टि में सबसे सरल एवं निकृष्ट साधन हैं और कलाकार की महत्ता को बढ़ाने वाले नहीं।

सेठजी के नाटकों से एक बात पर और हमारा ध्यान जाता है जो कि उपन्यास और नाटकों में अन्तर प्रकट करने वाला है। उपन्यासों में नाटकीय तत्वों का प्रयोग होते हुए भी उनमें इतिवृत्त, पूर्वकथन, लम्बे वार्तालाप, लंबे दृश्य अथवा अध्याय हो सकते हैं किन्तु नाटक में इन सब बातों का प्रायः सर्वथा अभाव होना चाहिये। प्रेक्षक रंग-मंच पर हजारों वर्ष पहिले की घटनाओं को भी ऐसा

देखना चाहता है कि वे उसके समक्ष इसी समय हो रही हैं। नाटक का मुख्य उद्देश्य भी यही है कि जो हो चुका है उसे वर्तमान करदे। नाटकों में भूत और भविष्य की ज़रा भी गुंजाइश नहीं। वह तो वर्तमान से ही ओत-प्रोत होना चाहिये। यही उसकी विशेषता एवं उत्कृष्टता है। इससे वंचित होकर वह अपने मुख्य उद्देश्य से भी दूर फिंका जाता है। सेठजी की रचनाओं में भूत प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है; पात्र भूत की ही अधिक चर्चा करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि वार्तालाप करने के स्थान पर पूर्व-घटित घटनाओं का कथन करके ही कथावस्तु को आगे बढ़ाया करते हैं। वे इतिवृत्त कहते हैं। पात्रों को यह न कर वर्तमान घटनाओं में ही सक्रिय रहना चाहिये। यही रंग-मंच के लिये उपयुक्ततम एक साधन तथा उपाय है। चित्रपट-कला के भारत में अभी एक सीमा तक ही उन्नत होने के कारण उसमें यह दोष आ गया है और यही दोष सेठजी की रचनाओं में भी उतर आया है। यदि नाटक-लेखन में सेठजी ने अधिक समय दिया होता और मनन पर अधिक अवकाश दिया होता, केवल एक ही ओर लक्ष्य न रखते तो हमारा ख्याल है सेठजी से ये त्रुटियाँ कम होतीं क्योंकि सेठजी की प्रतिभा में हमारा पूर्ण विश्वास है और हम यह भी जानते हैं कि उसका अधिकांश प्रयोग मानव-हितार्थ राजनीति में हुआ है। भविष्य में उनके लिए इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

'प्रसाद' का नाट्य-चिंतन

दार्शनिक कवि, मार्मिक इतिहासज्ञ एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा के कलाकार 'प्रसाद' की नाट्यकला पर विवेचन करने के पहिले उस कला में प्राप्त होने वाली मूल-प्रवृत्तियों के उद्गमों, विकासों एवं परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि उसमें काव्य-कला के सब अंगों की विशिष्ट प्रमाण में पुष्टि हुई है। 'प्रसाद' उन इने-गिने कलाकारों में से हैं जिन पर भारत गौरव कर सकता है, जिन्हें महाकवि टैगोर के समकक्ष आंका जाता है और जो एक हिंदी-भाषा के उन उन्नायकों में से हैं जो भविष्य में विश्व के अमर साहित्यिकों में अपना सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण करेंगे। गत ३० वर्षों का हिंदी-साहित्य 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' का है, यद्यपि अन्य साहित्य-सेवियों को भी यथोचित स्थान दिया जा सकता है। जितनी व्यापक हिंदी माता की ये विभूतिएँ हुई हैं उतनी अन्य नहीं।

'साहित्य को, कलाकार को अपने युग से आगे चलना चाहिये।' इसमें सत्यार्थ है किंतु महान् लेखकों, कलाकारों और युग-प्रवर्तकों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे युग निर्माण अवश्य करते अथवा कर सकते हैं, युग के आगे चलनेवाले एवं पथ-प्रदर्शक भी होते हैं किन्तु उस युग की परिस्थितियों, विचार-धाराओं का उन पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ता है। उनसे वे ग्रहण करते, उन्हें प्रस्फुट करते और व्यापक बनाते हैं। यही उनकी महानता और महत्व प्रदर्शित होता है। विचार धाराएँ युग के वातावरण में कण-कण होकर समाई रहती हैं। परिस्थितिएँ इन कणों को पैदा करती हैं। विचारों के ये कण व्यक्ति व्यक्ति के उद्गारों, अनुभवों, अभावों के

प्रकटीकरणों, अनुभूतियों को गठित करते रहते हैं जिनका आधार समाज, वही मानव और इनका अन्तर और बाह्य-वातावरण रहता है। ये विचार-कण समाज के परितापों, संक्लेशों, वेदनाओं, अभावों बन्धनों आदि की गर्मी से तापित होकर विशाल-मानव सागर से धराधरों के रूप में परिवर्तित होते जाते हैं और फिर कलाकारों की उच्च प्रतिभा-श्रृंगों से संघर्षित हो विचार-धाराओं के रूप में बरस पड़ते हैं। तब हम उन्हें एक नवीन रूप में देखकर तृप्त होते हैं। इस प्रकार प्रतिभा असीमित, परोक्ष, निराकार, अनन्त से एक स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा सीमित, प्रत्यक्ष, साकार, सांत को जन्म देती है एक नव रचना, कृति का जन्म होता है। यह मानव कल्याण भी करती है। करती रहती है। धाराधर केवल एक बार तृप्ति देते हैं किन्तु विचार धाराएँ बार-बार और एक लम्बे युग तक तृप्त करती रहती हैं।

'प्रसाद' की स्वतन्त्र प्रतिभा ने भी १६२० की महाक्रांति, महाविप्लव से बहुत कुछ ग्रहण किया है। यहाँ मुझे समझने में आप गलती न करें और यह न समझलें कि इस कारण मैं 'प्रसाद' को दोषी समझता हूँ। युग का प्रभाव तो अवश्य पड़ता ही है। हजारों वर्षों के बाद जो महान् आत्मा, जो अवतार, जो मोहन पैदा हुआ है उसका प्रभाव व्यापक न पड़े, यह हो नहीं सकता। इसलिये 'प्रसाद' की उच्च कोटि की प्रतिभा ने जो ग्रहण किया, जिस क्षणिक, तत्कालीन बार बार मरनेवाले को ग्रहण किया उसे अपनी रचनाओं में स्थायी, सर्वकालीन और अमर बना दिया है। 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' ने इसी महान-युग का उज्वलतम प्रतिनिधित्व किया है जो न केवल भारत के इतिहास में किन्तु विश्व के इतिहास में अमर रहेगा। विश्व के एक चौथाई भाग की आकांक्षाओं, भावनाओं को अंकित कर भी क्या कोई यह कह सकता है कि यह युग, यह विभूति और ये कलाकार विश्व-

निराशा दोनों हैं। देखना यह है कि भारत भारत ही रहेगा अथवा प्रांतों में बँट जायगा। हम अपना, भारत का कल्याण करेंगे। अथवा हमारे शत्रुओं का, भारत की स्वतन्त्रता, शांति, उन्नति के शत्रुओं का। आज प्रजा सत्तात्मक प्रणाली से उसके द्वारा होनेवाली शांति से, भावना से, जैसे हम ऊब गये हैं। उस पर से हमारा विश्वास हटता जा रहा है। इस सब का हल है भारत के केन्द्र का अति प्रबल होना, भारत में केन्द्रीय शक्ति का न्यायी और प्रबलतम होना। यदि हम चाहते हैं कि भारत भारत ही रहे प्रांतों में बँटकर अपने शरीरांगों को छिन्न-भिन्न न करे तो हमें समस्त भारतीय दृष्टि से ही विचार करना होगा। कॉंग्रेसने एक बार पुनः भारत को एक सूत्र में पिरोदिया है और हमारा कर्तव्य है कि हम उस सूत्र को तोड़ न डालें। इसके लिये हमें व्यक्तित्व को, प्रांतीयता को तिलाञ्जलि देना होगा। व्यक्ति तो मरते रहेंगे, मानापमान तो आता जाता रहेगा, प्रांतीयता तो बदलती और मनती रहेगी किन्तु यदि हम भारत को एक और अखंड देखना चाहते हैं तो हमें अपना 'अपनापन' खो देना होगा। भारतीयपन अपनाना होगा। सब बातों पर भारतीय दृष्टि से विचार करना होगा और जब तक अन्तर्राष्ट्रीयता से लाभ उठाते हुए भी उसका दम भरने से हमारा कल्याण नहीं होगा। हम यह जानते हैं कि शासन कितना आदर्श, राम-राज्य सा क्यों न हो सब के साथ सदा न्याय नहीं हो सकता, सब की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ पनप नहीं सकतीं। वे सब व्यक्तियों में स्वार्थों, स्थितियों, भावों, विचारों, आचरणों तथा हृदय एवं मस्तिष्कों के कारण स्वाभाविक रूप से विभिन्न होती ही हैं। इसलिए उन सबमें से हमें सबकी समष्टि के कल्याण का मार्ग ही निकालना पड़ता है। बात यह है कि भारतीयता प्रत्येक व्यक्ति में समाना चाहिए। यही

उचित भी है। किन्तु प्रत्येक का व्यक्तित्व यदि भारत में समा जायगा तो भारत की एकता का अवश्य नाश होगा। आज यह हम देख रहे हैं कि भारत का तरुण, एक समूह, एक नेता वर्ग अपने में भारतीयता देखने के स्थान पर अपना व्यक्तित्व भारत में देखना चाहता है। यह भारत के मौत की, पराधीनता को जकड़े रहने की निशानी है। राम-राज्य में भी सीता के साथ न्याय हुआ था क्या? क्या आप सोचते हैं कि भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने, सीता को, नारी को सम्मान की दृष्टि से देखने वाले राम ने, जनता की आवाज पर सीता को, एक व्यक्ति को दुःख देना, उसके प्रति अन्याय करना, अपने हृदय पर वज्राघात करना न सह लिया? तब हमें भारतीय स्वतन्त्रता के कारण न केवल वर्तमान में किन्तु भविष्य में भी अपने पृथक व्यक्ति को दबाना पड़ेगा, कुचलना पड़ेगा और आवश्यकता हुई तो मृत्यु के घाट उतारना पड़ेगा। भारत जियेगा। भारत अमर रहेगा। भारत नहीं मर सकता। हम तो मर-मर कर जीवित होंगे। तब हमें क्या करना चाहिये? हमें अपनी ओर देखना चाहिये अथवा भारत की ओर, यही प्रश्न हमारे समक्ष गंभीर होकर विचारार्थ उपस्थित रहा है।

'प्रसाद' के नाटकों में इस समस्या को इतिहास के आधार पर उठाया गया है। इसी के आधार पर आदर्श और हल रखा गया है। अंत-विद्रोही का प्रभाव राज्य पर क्या पड़ता था? धार्मिक उन्माद, व्यक्तिगत स्वार्थ, भारत की आदर्श महणता, न्याय प्रियता का कब कैसा परिणाम निकलता था, भारत विजयी होते हुए भी क्यों पराजित होता था? उसकी सज्जनता, उसकी विरक्ति उसकी वीरता का कब और कैसा प्रयोग होता था? भारत में बिंबसार से लेकर हर्ष तक लगभग १२०० वर्ष तक, जब भारत अपने ही कार्यों का, भविष्य का नियामक और स्रष्टा था तब वह क्या करता था? इसका समुचित

दिग्दर्शन 'प्रसाद' के नाटकों में मिलता है।

भारत का ऐतिहासिककाल उस स्वर्ण युग से प्रारंभ होता है जब अहिंसा की प्रचारिका, विश्ववंद्य दो महाविभूतियाँ विश्व कल्याण के लिये अवतरित हुई थीं। महावीर और गौतमबुद्ध जीवन और तत्सम्बन्धी सृजित साहित्य इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने में बहुत दूर तक समर्थ हुआ है। इन्हीं के समय के राजा बिंबसार अथवा श्रेणिक से हर्ष तक का लगभग १२०० वर्षों का काल वह ऐतिहासिक शुद्ध भारतीय काल है जिसका गौरव, जिसकी संस्कृति का अभिमान, जिसके साहित्य का श्रेय, जिसके इतिहास की श्रेष्ठता स्वतन्त्र भारत वास्तविक भारत की निज की देन है। इसके बाद का काल भारतीय एवं मुसलिम युग का संधिकाल था जो लगभग बारहवीं शताब्दी, ६०० वर्षों तक रहा था। यह पूर्व भारतीय राज सत्ता के ह्रास-उदय, विजय-पराजय, संघर्षमय वातावरण में अपनी स्थिति कायम रखने का युग है और जिस युग से भारत की अपनी देन दिनोंदिन क्षीण होने लगती है। मुस्लिम युग में भारत से हिंदुस्थान बनने का उपक्रम आरंभ हुआ और आज वह बनता हुआ दृष्टिगोचर होने लगा है। मुस्लिम काल के प्रारंभ से अब तक का भारत पूर्ण पराधीनता और पराधीनताजन्य अभिशापों का इतिहास है।

'प्रसाद' ने पूर्व-मुस्लिम युग को ही अपनी प्रतिभा और कल्पना का क्षेत्र बनाया है। इस युग को बौद्ध-काल भी कहा जा सकता है क्योंकि गौतमबुद्ध द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म का प्रकाश, विकास, चरम सीमा-प्राप्ति, ह्रास और उन्मूलन भी इसी काल में हुआ। गौतम से प्रारंभ कर शंकर तक इसकी सीमा निश्चित की जा सकती है। बौद्ध धर्म के प्रभाव की दृष्टि से भी इस काल का यह नाम असंगत नहीं। प्रसादजी की वृत्तिएँ इसी काल के अनुशीलन में रमी हैं। इस काल

का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है, जो यद्यपि अपने-अपने धर्मों, सिद्धांतों की पुष्टि के लिये लिखा गया था तथापि उसमें प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री, उस युग के न केवल राज्य-परिवारों का वर्णन किन्तु जन साधारण की स्थितियों का, दशा का भी पूर्ण वर्णन मिलता है। तत्कालीन जन-समूह की भावना भी मिलती है। प्रसाद ने इस युग के साहित्य का पर्याप्त अध्ययन किया है। वह सर्व सम्मत इतिहासाधारों एवं स्वाध्ययन पर अवलम्बित है। इसीलिये वे इतिहास का साहित्य से समुचित सामंजस्य स्थापित कर सके हैं। इसलिए उनकी कृतियों में, विशेषकर नाट्य-कृतियों में ऐतिहासिकता, दार्शनिकता, कल्पना और काव्यत्व कूट-कूट कर भरा हुआ है। उनकी रचनाओं में न केवल हमारी गौरवमय स्थिति, संघर्षमय जीवन हमारी स्वतंत्र उद्भावना शक्ति का परिचय, घटनाओं को हमारे अनुकूल चलाने की प्रतिक्रिया. राष्ट्रों को सृजन, विनष्ट करने, उनके पोषण, रक्षण, व्यवस्थित करने की व्यवस्था मिलती है किन्तु भारत के भविष्य का पथ प्रदर्शन, नियंत्रण और आदर्श भी मिलते हैं। उनकी कृतियों में इसलिये इतिहास है, साहित्य है, अमरत्व है।

प्रसाद की विचार-धारा पर न केवल बौद्ध दर्शन का सैद्धांतिक प्रभाव पड़ा है किन्तु उससे कई गुण अधिक बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन का ऐसा ऐतिहासिक अध्ययन की प्रवृति के कारण भी हो गया है। बौद्ध-धर्म का उद्गम भगवान बुद्ध की करुणा में है। उनकी करुणा विश्व के क्रन्दन में निहित है। वह केवल बलिदानित पशुओं की पुकार ही नहीं थी जिसने गौतम के हृदय को कँपा दिया, उनके मस्तिष्क को मथ दिया, विक्षुब्ध कर दिया। वह तो मानव की, समूचे मानव की, विश्व की, प्राणीमात्र की पुकार थी जिसने उनकी आत्मा में विद्रोह फैला दिया। जिसने उन्हें करुणा और त्याग की ओर अग्र:

बंध न हो सकेंगे।

'प्रेमचन्द' ने इस युग-साहित्य के शरीर को गठित किया, सुदृढ़ बनाया, उसमें प्राण प्रतिष्ठा की। 'प्रसाद' ने आत्मा की ओर ध्यान दिया। 'प्रेमचंद' ने ताजे और समूचे फलों का प्रयोग किया और 'प्रसाद' ने केवल रस का, और हम देखें 'प्रसाद' में कैसे उज्ज्वलतम रूप में हमें इस महान-युग की प्रतिक्रिया, सुन्दरतम निदर्शन मिलता है।

इस महान युग के प्रथम, सन् ५७ के बाद, राष्ट्रीय आंदोलन तो हुये, जाग्रति भी हुई। उसके पूर्व के राष्ट्रीय प्रबल प्रयत्नों को इतिहास भुला नहीं सकता। किंतु विस्तृत भारत के कोने-कोने में जो संदेश, जो आत्मिक बल-सौरभ फैला वह अलौकिक, अप्रतिम हुआ है। इसके पहिले वह युग था जिसमें अंग्रेजों के न्याय में, महारानी विक्टोरिया की घोषणा में, उनके संरक्षण में, उनके साहित्य और शिक्षण में श्रद्धा और विश्वास था। उदासीनता कम थी। अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के प्रति प्रेम अधिकाधिक बढ़ रहा था। इस आन्दोलन ने सहसा इन भारत विरोधी-प्रगतियों को क्षण भर के लिये रोक दिया। क्षणभर भारत को सोचने के लिये ठहरा दिया। आंतरिक जो अनुभव वह कर रहा था और जिसे आत्म-प्रकटीकरण नहीं मिल रहा था अब वही बहिर्गत होकर प्रकट और स्पष्ट हुआ। अंतर को खोलने का मार्ग मिला। सबसे पहिले भारत को यह भान हुआ कि उसकी आत्मा में भी बल है। अंग्रेजों की शक्ति का प्रभुत्व आतंक जो सन् सत्तावन में फैला था और जो अब तक बढ़ता ही आया था वह कपूर के समान उड़ गया। असहयोग-आंदोलन की गर्मी को सह न सका। साहित्य पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ा है। सबसे पहिली बार पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा से हमें विरक्ति

हुई। इसके पहिले के साहित्य में कोई बात ऐसी नहीं पाई जाती जो इसका प्रबल विरोध करने वाली रही हो, यह बात नहीं थी कि इसका अनुभव नहीं हुआ हो। वह तो भारतेंदुबाबू से प्रारंभ हो गया था और उसका तत्कालीन प्रभाव भी उनमें लक्षित होता है, किंतु उसके बाद तो हमने अपने को हेय और यूरप को श्रेष्ठ समझना व्यापक और सामूहिक रूप से प्रारंभ कर दिया था और इसी भावना पर आघात इस आन्दोलन ने किया। हमें अपना और अपनी आत्मा का ज्ञान हुआ। मेरा तो यह ख्याल है चूँकि एक कलाकार, लेखक या साहित्यिक अपने युग की जिन्दगी बिताता है कोई लेखक इस युग भावना से अछूता नहीं रहा। १९२० से १९३२-३३ तक इसका प्रचुर प्रभाव रहा और इसके बाद इस प्रभाव पर कुछ अन्य प्रभावों ने और विचार धाराओं ने प्रभाव डालना प्रारंभ कर दिया। किंतु ये उनके पुत्र या पुत्री ही हैं। उसी युग माता से निस्सृत हुए हैं। अतएव 'प्रसाद' से प्रभावशाली स्वतंत्र प्रतिभा के उपासक बाह्य आन्दोलनों और वातावरणों से निलग रहने वाले 'प्रसाद' में भी इसका प्रभाव लक्षित हो, काफी प्रमाण में तो हमें आश्चर्य करने की या 'प्रसाद' की प्रतिभा में कमी समझने की आवश्यकता नहीं। वास्तव में इतिहास-अध्ययन, स्वतंत्र प्रतिभा, कवित्व के साथ युग-प्रभाव जो कि अनिवार्य है 'प्रसाद' में हमें मिलता है। 'सज्जन' 'प्रायश्चित', 'विशाख', 'राज्य-श्री' और 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में इस युग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता और ये इस युग के पूर्व की रचनाएँ मालूम होती हैं। 'कामना' में उनका कवित्व इसी युग के प्रभाव को लक्षित करता है एवं अवलम्ब लिये हुये है। साथ ही 'कामना' 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' का विकसित रूप भी है जो 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की रचना प्रणाली वाली रचनाओं में प्राप्त होता है।

'अजातशत्रु' 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' इस युग से स्पष्ट प्रभावित हुए हैं किन्तु प्राचीन, भारत के गौरवमय इतिहास के अध्ययन के स्वरूप 'प्रसाद' इनमें कहीं इस युग से अधिक आगे; बहुत आगे निकल गये हैं। आज देश अथवा कांग्रेस की भी वही हालत है जो 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में वर्णित संघर्षों के समय हुई है। हम इनमें कई आधुनिक चरित्रों की उद्‌भावना भी कर सकते हैं। 'स्कन्द-गुप्त' इस युग का प्रभाव अंकित करता है। 'चंद्रगुप्त' पर-त्त, कुछ स्थायी और कुछ अस्थायी। लेखक में जो भाव रहता है वह किन्हीं राजनैतिक कारणों से अवरूद्ध रहने के कारण साहित्य के रूप में अवश्य ही उद्‌गत होता है। 'कामना' में यही हुआ है।

सन् १९२० में जो जागृति पैदा की गई, जो नेतृत्व प्राप्त हुआ वह १९२८-२९ तक बढ़ता रहा। व्यवस्थित होता रहा। १९३२-३३ में वह चरम सीमा पर पहुँचा और १९३८ तक उन प्रयत्नों के फल स्वरूप कुछ परिणाम निकला। कुछ आशा बँधी और आज हम फिर देखते हैं कि उसमें विकृति आ रही है। अव्यवस्था की ओर तरुण समाज का एक भाग दौड़ रहा है। जो देश को पीछे ले जाने वाला है, जो अव्यवस्था की सृष्टि कर उसमें क्रांति को जन्म देगा, किन्तु भारत जिस सुख शांति, स्वतंत्रता, व्यवस्था के लिये उत्सुक है, आकांक्षी है, उसे वह दूर ले जायगा। और इसके बाद हिताहित क्या होगा उसकी ओर से मौन है। अदृष्ट और नियति क्या सृजन करेगी नहीं कहा जा सकता? किन्तु भारतीय इतिहास से, प्रसाद के उक्त नाटकों में विशेषकर 'स्कंदगुप्त' में शिक्षा ग्रहण करने के लिए बहुत कुछ है। कॉलेज में पढ़नेवाला तरुण 'स्कंदगुप्त' को पढ़ते हुए भी मनन नहीं करता। भारत की दुर्दशा और इतिहास की अवहेलना करता है। परिणाम यह हुआ है कि केंद्रीयकरण की भावना छत-

विक्षत, छिन्न-भिन्न हो रही है।

किसी अन्य देश के संबंध में यह बात घटित होती हो अथवा न होती हो किंतु भारत के संबंध में तो आज की परिस्थितियाँ स्पष्टरूप से बता रही हैं कि इतिहास में पुनरावृत्ति का सिद्धांत पूर्ण रूप से लागू होता है। भारत एक महाद्वीप, एक महादेश है। कई प्रांत यूरप के कई देशों के बराबर हैं। यूरोपीय देशों के समान यहाँ के देशों में भी उपदेशीयता का भाव प्रबल रहा है। प्रांतीयता अथवा पराधीनता से जकड़े हुए भारत की विश्व-बन्धुता, गुलाम, निर्बल भारत की विश्व-बन्धुता उसके लिए अभिशाप बन-बन कर सदा उसे सताती रही है। ऐतिहासिक काल के आरंभ से चन्द्रगुप्त, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त (गुप्त) चन्द्रगुप्त (गुप्त), विक्रमादित्य, हर्ष आदि के प्रयत्न एकीकरण के लिए ही हुए हैं। सम्भव है उनमें किसी को साम्राज्यवादिता की गंध आवे किन्तु भारतीय साम्राज्यवादिता-चक्रवर्तित्व—भारत हितार्थ ही रही थी। समग्र भारत का भारतीय भाव एक संस्कृत, एक जाति, एक धर्म एक देश के कारण कभी छिन्न-भिन्न नहीं हुआ। प्रत्येक भारतीय अपने को एक ही समझता रहा। इससे यह सूचित होता है कि समग्र देश को एक ही भाव में देखने की आकांक्षा प्रारंभ से प्रत्येक भारतीय में रही है। राजकीय सीमाएँ बनती और बिगड़ती रहीं किन्तु भारत के हृदय-स्थल में बहनेवाली समस्त भारत को एक ही धारा सब में बहती रही। आज भी परिस्थितियाँ स्वार्थ और अपमान के कारण भीषणतर होती जा रही हैं। हम जानते हैं कि कहाँ जा रहे हैं किन्तु अपने गमन को रोकने में जैसे असमर्थ हैं। उस क्रांति की ओर जैसे विवश होकर बढ़ते जा रहे हैं। हम जानते हैं कहाँ जारहे हैं किंतु अपने गमन में रोकने में जैसे असमर्थ हैं। उस क्रांति के आवरण में प्रकाश और अन्धकार, आशा और

सर कर दिया। सब जानते हैं, रोगी वृद्ध और मृतक को देखकर ही उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। इस युगान्तरकारी घटना को चाहे स्वप्न कहो अथवा साक्षात् एक-एक व्यक्ति मानो अथवा व्यक्तियों की समष्टि, किन्तु है वह: ध्रुव, प्रत्यक्ष सत्य जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उन्हीं को देख कर उन्हें मानव की, प्राणियों की निरीहता, निर्बलता, असहायता का ज्ञान हुआ। मानव की लघुता, तुच्छता, परवशता का ज्ञान हुआ, जिसने उनके हृदय में मानवी, प्राणी मात्र की, करुणा का उद्रेक किया।

संसार के सब प्राणी सुख चाहते हैं। दुःख से भय-भीत रहते हैं। वे चाहते हैं उन्हें कोई रोग न हो, शोक न हो। इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग न हो। उनमें सदा यौवन, बल बना रहे। वे वृद्ध न हों। मरें नहीं। हमेशा उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण होती रहें। मनोवाञ्छित धन, जन, पुरुष अथवा नारी की प्राप्ति होती रहे। वह एक छत्र अधिकारों का भोग करते रहें। उनके कार्यों में, स्वतंत्रता में बाधा उपस्थित न हो। इन्हीं सबकी उपलब्धि के लिए उसने अपने मनोराज्य में कामधेनु, कल्पवृक्ष और स्वर्गादि की कल्पना की। अपनी सुख स्वतंत्रता के हेतु उसने राष्ट्रों, देशों का नियमित संघटन और विघटन किया। हिंसाएँ कीं। पूजा, यज्ञ बलिदान तथा अन्य अनेक धर्माचरण, ढोंग, पाखंड, क्रियाकांड, तप-तपस्याएँ कीं। मंदिरों, मस्जिदों गिरजाघरों आदि का निर्माण किया। किन्तु परिणाम क्या निकला? उसके चारों ओर चक्रव्यूहों की, मकड़ी के जालों की रचनाएँ होती गईं। वह सुलझने के बजाय उलझता ही अधिक गया। उसने सोचा विकास हो रहा है। उन्नति हो रही है। किन्तु एक समय के बाद जो उसने पीछे फिरकर दृष्टि डाली तो उसे ज्ञात हुआ कि वह तो पीछे जा रहा है। अवनति की ओर खिंचता चला जा रहा है।

उसने नव सभ्यता का निर्माण किया किन्तु वह अधिकाधिक असभ्य, नग्न होता गया। अपने को ढँक कर उसने मानव के सुख के लिये नवीन ज्ञान-विज्ञानों के साधनों की सृष्टि की, किन्तु उल्टी उसे उनसे दुःख ही की प्राप्ति हुई। इतने प्रयत्नों के बावजूद भी मानव सुखी न हो सका, सम्पन्न न हो सका। मानव-मानव समानता के लिये उसने साम्यवाद का संदेश दिया, किन्तु उसमें वैमनस्य, विषमता, और कटुता ही की अधिक वृद्धि हुई। उसने सुख, संतोष और आराम के लिये नगरों का निर्माण किया किन्तु अस्वास्थ्य, असंतोष, कार्य बहुलता का रोग अपने साथ लगा लिया। आशामय भविष्य और आदर्श में उसे निराशा और अपकर्ष मिला। उसने रोगों से बचने के लिये टॉनिक लिया किन्तु वह निर्बलता का अनुभव करने लगा। उसका शरीर खोखला होने लगा। उसने आयुवृद्धि के उपायों का आविष्कार किया किन्तु उसे उनके साथ दुःख, अवसाद, ग्लानि और अधिकाधिक विभीषिकाओं का सामना करना पड़ा।

एक समय था जब मनुष्य अराजक, निर्द्वंद्व, स्वतंत्र और बिखरा हुआ था। वह बड़ा होगा। उसके कुटुम्ब बने। जाति और जातिनेता बने। राष्ट्र नेताओं का उद्गम हुआ। राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई। यह सब क्यों? सुख, शान्ति, आत्म-संतोष के लिये। विकास, वृद्धि और उन्नति के लिए उसने राज्यतंत्र तथा अन्य तंत्रों की स्थापना की कि वह सुखी हो सके। पर वह सुखी न हो सका। राज्यों की सृष्टि के साथ स्वामित्व, भूमित्व और राजत्व की उत्पत्ति, और उनके विकास के साथ, राजनीति फिर कुटिल राजनीति, फिर छल प्रपंच का दौर दौरा शुरू हुआ। राज्य शक्तियों को अपनाने, उनका उपयोग निजी स्वार्थ के लिये करने की प्रथा चल पड़ी और फलतः न केवल राज्यों में ही किन्तु साम्राज्यों में भी वही छल, प्रवञ्चना, कलह, कौटुम्बिक

और राज्य संबंधी, उत्थान पतन, सृजन और उन्मूलन की वृद्धि हुई। और वह इस सीमा तक पहुँच गई कि राज्य से, राज्यतंत्र से, राजा से, राज्य-संबंधी कार्यों से ही विश्वास हट गया। घृणा हो गई। न केवल व्यक्ति और समाज तक ही बल्कि राज्य तक की यही उदासीनता गौतम के रूप में एकाएक जाग्रत हो गई। आज के समान उस समय भी जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत सत्य प्रतीत होने लगी। एक विषाद, एक अवसाद, एक घृणा, एक ग्लानि छा गई। मानव-समाज, राष्ट्र और राज्यों की यही उदासीनता-बौद्ध उदासीनता और निराशा है जिसका दिग्दर्शन हमें प्रसादजी के नाटकों में देखने को मिलता है। आज के समान उस समय भी यही परिस्थिति थी जिसने साधुओं, तपस्वियों की विरक्ति जनसमूह में फैला दी थी। बात यह है कि यह परिस्थिति रहती तो किसी न किसी रूप में हमेशा ही है किंतु लोग सहते जाते हैं, उसका अनुभव जैसा चाहिए वैसा नहीं कर पाते हैं तब कोई महाकवि, कोई महात्मा, कोई महान् आत्मा उन्हें जन-समूह में व्यापक बना देती है। उससे उनका अनुभव करवा लेती है। उसकी अनुभूति की, उस अनुभूति को समझने की शक्ति पैदा कर देती है। 'अजातशत्रु' में वाजिरा कहती है 'प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिये कितना प्रयास होता है। अन्धी जनता अँधेरे में दौड़ रही है। इतनी छीना झपटी, इतना स्वार्थ साधन कि सहज प्राप्य अन्तरात्मा के सुख-शांति को भी लोग खो बैठते हैं। भाई-भाई से लड़ रहा है। पुत्र-पिता से विद्रोह कर रहा है। स्त्रियाँ पतियों पर प्रेम नहीं, किंतु शासन करना चाहती हैं। मनुष्य-मनुष्य के प्राण लेने के लिये शस्त्र-कला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कविता करते हैं। बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं।"

विश्व की यही चिरकालीन दशा है है जिसका विशिष्ट प्रदर्शन भगवान बुद्ध ने किया, मानव को हृदयंगम कराया और वही प्रसाद में उतर आया है जिसका चित्रण 'प्रसाद' के प्रत्यक दार्शनिक पात्र में सहज रूपेण मिल जाता है।

उनके दार्शनिक विचारों की दूसरी धारा, प्रणाली है उनकी 'नियति', 'अदृष्ट' 'अदृष्ट की लिपि' जिसका उन्होंने बहुलता से प्रयोग किया है। इनमें उनका अध्ययन ही नहीं है उनके दार्शनिक स्वतंत्र चिंतन का सार, निचोड़ है।

अध्ययन और चिंतन के पश्चात् जिस परिणाम पर वे पहुँचे हैं वह उनका सिद्धांत वाक्य कि 'मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास," देखने में किसी को यह सिद्धांत पुराना मालूम पड़े, इसलिये शायद मौलिकता से हीन भी किन्तु प्रसादजी इस पर पहुँचे हैं वेदों, उपनिषदों और आरण्यकों के चिंतन और अनुभव के पश्चात के नेति-नेति के समान ही।

प्रसादजी की यह प्रकृति और नियति क्या है ? मनुष्य वास्तव में प्रकृति का अनुचर ही है। प्रकृति के अनुसार ही वह अपने जीवन और उसके साधनों का उपयोग और नियमन करता है। इसी के आधार पर उसके समस्त कार्य अवलम्बित रहते हैं। प्रकृति की सहायता से ही उसके कार्य सफल होते हैं। उसके ज्ञान से ही मनुष्य को उसकी सच्ची सहायता मिलती है। प्रकृति का विरोध कर वह जी नहीं सकता, दीर्घायु नहीं हो सकता। पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। मनुष्य कहता है उसने प्रकृति पर विजय पाई है। कितनी भ्रामक है यह धारणा। यह प्रकृति पर विजय नहीं है। यह तो उसका सहयोग है, अनुकरण है। । उसके रहस्यों का ज्ञान है जिसके आधार पर वह रेल दौड़ाता, जहाज चलाता, वायुयानों पर उड़ता और तार

अथवा बेतार, रेडियो आदि से खबरें सुनता और दूर के चित्रों को देखता है। प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके ही वह उसका अनुकरण कर पाया है न कि विरोध के द्वारा। जरा भी विरोध करता है कि उसे पराजित होना पड़ता है। विरोध पर तो वह टिक भी नहीं सकता। उसके आविष्कार, अन्वेषण प्रकृति पर विजय नहीं उसके अनुकरण, शक्तियों का ज्ञान हैं। 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर' से प्रसाद का यही तात्पर्य है।

दूसरा तात्पर्य उसका यह है कि मनुष्य में मूलतः कुछ प्रवृत्तिएँ ऐसी होती हैं और उनके रक्त-मांस में इतनी समाई रहती हैं कि उस मनुष्य से, उस मनुष्य के व्यक्तित्व से वे दूर नहीं की जा सकतीं। शिक्षा तो शिक्षा, संस्कृति और समय भी उन्हें दूर नहीं कर सकता। उनमें कमीवेशी, कुछ परिवर्तन कर सकता है। कुछ रूप बदल सकता है। किन्तु उन्हें बदल सकना, ज्ञान, विज्ञान, दैव आदि किसी के वश की बात नहीं होती। यह बात केवल व्यक्ति विशेषों पर ही घटित नहीं होती किन्तु समाजों, जातियों और राष्ट्रों पर भी उतनी ही लागू होती है। हम देखते हैं कि मनुष्य अति सज्जन और परोपकारी होता है। वह अन्याय सहकर भी, दुनियाँ के दुःख और कपट को भी देखकर सज्जन प्रवृत्ति नहीं छोड़ सकता है, चाहे सदा दुःख ही उठाता रहता है। दुष्ट क्रोधी प्रवृतिवालों की भी यही दशा रहती है। हम देखते हैं कुछ ही ही शताब्दियों से सभ्य हुए यूरोपीय राष्ट्र और उनके वंशज देशों में से अभी तक बर्बर रक्त कम नहीं हुआ। सब दृष्टियों से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि मनुष्य यथार्थ में प्रकृति का अनुचर ही है।

और नियति का दास तो वह है ही। 'अदृष्ट अथवा अदृष्ट की लिपि' चाहे कितनी ही आशामय क्यों न हो किन्तु वह फूलती तो

'नियति की डोरी' पर ही है। 'नियति की डोरी' पकड़ कर ही तो वह 'आशामय भविष्य' में प्रवेश करता है। कुछ क्षणों को, कुछ समय को, कुछ तुच्छ, साधारण, क्षणिक घटनाओं को यह संचालित कर सकता है किन्तु घटनाओं के स्रोतों को, समय की विराटता के समक्ष तो उसे मस्तक नवाना ही पड़ता है। वाह्यतः वह ऐसा सोचता है कि अमुक-अमुक कार्य अमुक-अमुक प्रकार होंगे किन्तु उनकी तह में क्या होने वाला है उसे वह नहीं जानता। यही तो प्रसाद की 'नियति' है। वह पृथ्वी माता से सोना, चाँदी, कोयला आदि निकालता तो रहता है किन्तु कैसे उनमें भावी विस्फोटों की सृष्टि हो रही है इससे वह अवगत नहीं। भूचाल आता है। ज्वालामुखी प्रकट होते हैं, बाढ़ें आ जाती हैं। वह धराशायी हो जाता है किन्तु कैसे इनका सृजन कहाँ और कब होता रहता है आज का मनुष्य तो इनसे परिचित नहीं हुआ। भविष्य तो नियति आधीन है ही। जिस दिन मनुष्य प्रकृति और नियति के गूढ़तम रहस्यों से पूर्णतया परिचित हो जायगा कदाचित् उस दिन प्रलय हो जाय क्योंकि उसके पश्चात् फिर सृष्टि क्रम रचने की जरूरत पड़ जायगी। प्रकृति और नियति ने अपने गूढ़तम रहस्यों को हमसे अब तक बड़ी सावधानी से छिपाया है। मनुष्य की कितनी सचेतताओं सावधानियों के विरुद्ध भी प्रकृति और नियति की ही विजय हुई है। वैज्ञानिकों ने सचेतताओं और सावधानियों के सहारे उनका विरोध किया और महात्माओं ने उनकी शक्तियों के अनुकरण को अपना ध्येय बनाया। दो विभिन्न मार्गों से दोनों पहुँचे एक ही स्थान पर। यही तो 'प्रकृति' और 'नियति' का रहस्य है जो अदृष्ट और आशामय है।

'प्रसाद' ने ये ही भावनाएँ विभिन्न प्रकारों और स्थलों पर अपनी नाट्य रचनाओं में उनके पात्रों के द्वारा प्रकट की हैं।

अब उनके दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं पर विचार कीजिये। मूल रूप से प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन में तीन प्रणालिएँ लक्षित होती हैं जो शतधा रूपों में उनके नाटकों में, दार्शनिक विचार कणों में बिखरी हुई हैं। प्रथम दार्शनिक धारा तो वह है जिस पर वेदकाल से लेकर गीताकाल तक के प्राचीन ऋषियों के चिंतन का प्रभाव पड़ा है। दूसरी वह है जिनमें बौद्ध-दर्शन, दुःख अथवा निराशावाद का प्राचुर्य है और जिसमें निवृत्ति मार्ग की प्रधानता है। तीसरी धारा हमारे युग के चिंतन की धारा है जिसमें प्रसाद का केवल व्यक्तीकरण अथवा स्पष्टीकरण ही नहीं है उनका मौलिक चिंतन भी है। चूँकि प्रसाद की मूल प्रवृत्तिएँ इतिहास की ओर थीं और प्रसाद का रोम-रोम कवित्व अथवा काव्य था, काव्यमय इतिहास अथवा इतिहास समन्वित काव्य था, ये धाराएँ भी इतिहास के काल के अनुसार उनमें व्यक्त हुई हैं। जिस काल की उनकी रचना है जैसा उनका पात्र है उसी के अनुकूल उनका दार्शनिक चिंतन पथ प्रशस्त करता जाता है। इसी कारण उनकी दार्शनिकता और ऐतिहासिकता में काव्य ओत-प्रोत डूबा हुआ है और किसी एक का पृथक देखना, उनमें से किसी को विलग करना संभव नहीं। पौराणिक काल की रचनाओं में उस काल के दार्शनिक विचारों का व्यक्तीकरण, बौद्ध-काल की रचनाओं में बौद्ध-दर्शन की आत्मा और गुप्तकाल की रचनाओं में इस काल के बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्षमय अवस्था का अवसाद, ग्लानि, कटुता, ईर्षा, जय-पराजय और धार्मिक उन्माद की चिनगारिएँ प्रज्वलित हो उठी हैं।

हमारे युग का क्रन्दन, प्रतारणा, पराधीनता का अभिशाप और उससे मुक्ति का संदेश, हमारे युग की राजनीतिक, सामाजिक समस्याएँ और उनके हल, राष्ट्रीयता और उनका स्वरूप उसके विकास और उचित मार्ग के निर्देश और 'आदर्श' भारत एक और अखंड है' का

संदेश और इसके लिये भारतीयों और तरुणों के कर्तव्य का ज्ञान और इन सबसे ऊपर विश्व-बन्धुत्व अथवा मानवी करुणा का उद्रेक युक्त दोनों युगों की रचनाओं में परोक्ष रूप से और 'कामना' एक घूँट में प्रत्यक्ष और विशेष रूप से उर्ज्वेसित हो उठा है। उबल-उबल पड़ा है। *

* उनके ऐतिहासिक, दार्शनिक और काव्यमय चिंतन का उज्ज्वलतम, भव्यतम, सर्वोपरि रूप, सार 'कामायनी' काव्य में बड़े ही सुन्दर और कलात्मक रूपमें निचड़ आया है। इसीलिए रामचरित मानस के पश्चात् हमारे युग के इस सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले तुलसी ने हमें युग युग तक अमर रहने वाले महाकाव्य को प्रदान कर हिन्दी साहित्य का और यदि विश्व उसे समझे और जब समझेगा तो उसका महान उपकार किया है। चिरस्थायी बनाया है।

सूर और अन्य कवि

विद्यापति एक सच्चे भावुक, सहृदय श्रृंगारिक कवि हुए हैं। उनका भाषा-माधुर्य, संस्कृत की पदावलि का अनुकरण अनुपमेय है। भावों की सरस लहरी जो विद्यापति ने बहाई है, उससे मिथिला के रग-रग से जीवन-संगीत प्रवाहित हो रहा है। उनकी भाषा और भावों के कारण ही बंग विद्वान विद्यापति को अपना आदि कवि मानते रहे हैं। विद्यापति की विशेषता यही है कि उन्होंने सदा अनवरत बहने वाली श्रृंगार-रस की धारा बहाई है। संस्कृत-साहित्य में जैसे जयदेव श्रृंगार-रस-पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी तरह हिंदी में कोमल-कांत-पदावलि लाने का श्रेय विद्यापति को है। विद्यापति ने पदों में अपने भावों का स्रोत बहाया है। उनके समस्त पद गेय और संगीत के नियमों के अनुकूल हैं। वे राधाकृष्ण के रूपमें, निस्संकोच होकर, यहाँ तक कि अश्लीलता का डर त्याग कर भी श्रृंगार-रस से ओत-प्रोत हैं। राधाकृष्ण के वर्णन में 'अभिनव जयदेव' (विद्यापति) ने राधा के नन्हें-नन्हें, 'बेर से कुचों' का वर्णन तो क्या, 'अभिसार' तक का वर्णन किया है, पर उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने सरस माधुर्य-पूर्ण काकली भाषा में श्रृंगारिक भावों की बड़ी विमल धारा प्रवाहित की है। श्रृंगार-रस-संबंधी कोई भाव उनसे अछूता नहीं रहा है। अब सूर को लिया जाय। सूर में भी वही सीधा, सच्चा कहने का ढंग है। जो माधुरी ब्रजभाषा के द्वारा पाई जाती है वह भी स्वाभाविक है। उसी प्रकार उनके पद गेय, राधाकृष्ण की भक्ति से समन्वित और कहीं-कहीं अश्लीलता को प्रश्रय देते हुए पाये जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो विद्यापति का सूर पर पूरा-पूरा प्रभाव लक्षित होता है। भाव-साम्य की

तो जाने दीजिये, जैसे-जैसे विद्यापति को समझते आयेंगे, उनके काव्य का अध्ययन करते जायेंगे, सूर की तल्लीनता, भाषा, भाव, आदि में उन्हीं का प्रतिबिंब दीख पड़ेगा। इष्टदेव तो दोनों के एक हैं ही। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ विद्यापति ने शृंगार के अवलंबन के हेतु उन्हें चुना है, वहाँ सूर ने भक्ति की अनन्यता में उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित किया है। शैली की विशेषता ही यह है कि उसका एक ही पद कवि के समस्त भावों का केन्द्र रहता है। यही बात समान रूप से दोनों में पाई जाती है। विद्यापति यथार्थ चित्रण के नाम पर, जो चाहे, कृष्ण और राधा को लक्ष्य कर कह डालते हैं, वही बात हम सूर में भी पाते हैं। सूर यद्यपि भक्त हैं पर उसकी चरम सीमा पर, उसके आवेश में वे कृष्ण को खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकते, जैसे एक लँगोटिया मित्र एक मित्र को। कबीर में धार्मिक अल्हड़पन था। इन दोनों में साहित्यिक। विद्यापति और सूर में यही तो खूबी है कि हृदय के भावों के आवेग में जो धारा फूटेगी, उसके वेग को वे रोकेंगे नहीं, मोड़ेंगे नहीं। सूर पर विद्यापति का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यह मैं केवल इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि सूर विद्यापति के बाद के कवि हैं, पर मुझे तो सूर में विद्यापति का ही प्रतिबिंब नजर आता है। इसका आशय यह नहीं कि सूर ने विद्यापति का भावापहरण किया है। भाव साम्य है। सूर में स्वाभाविक अनुकरण है, पर रस दोनों में हृदय-तल से ही प्रवाहित हुआ है; यह तो मानना ही होगा।

कबीर का भी किसी न किसी अंश में सूर पर प्रभाव लक्षित होता है, यह भी इसलिए नहीं कि कबीर पूर्ववर्ती कवि हैं, किन्तु इसलिए कि कबीर-सा सत्यकथन सूर में भी पाया जाता है। पूर्ववर्ती कवियों का परवर्ती कवियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है और पहलेवालों के काव्यों से लाभ न उठाना एक बड़ी भारी भूल है। सूर ने दृष्टिकूटों की रचना

कदाचित् कबीर के उलटवासियों के अनुकरण पर की हो। अंतर केवल यह है कि जहाँ कबीर गहनतम आध्यात्मिक भावों को प्रदर्शित करने के लिए गूढ़ और उल्टे कथन करते हैं, वहाँ सूर गहन शृंगारिक भावों और साहित्यिक, धार्मिक, शाब्दिक ज्ञान प्रदर्शित करने के लिए। जनता इस प्रकार के कथनों को समझने में यद्यपि असमर्थ रहती है, पर ऐसे कथनों का उस पर प्रभाव खूब पड़ता है। ऐसे कथनकार को यह बड़ा विद्वान या साधु-महात्मा समझ बैठती है। साधारण लोग जनता की इस प्रवृत्ति से बड़ा लाभ उठाते हैं, यद्यपि कबीर और सूर का यह उद्देश्य नहीं था। कबीर उल्टे कथन अंतर्प्रवृत्ति की पुकार पर करते थे और सूर ने कुछ अंशों में, पांडित्य-प्रदर्शन एवं साहित्यिक ज्ञान के परिचय के हेतु ऐसा किया है। कभी-कभी अनुद्देश्य भी कोई अनुकरण चला करता है और कभी गुप्त, गहन, अप्रकट-योग्य विचारों को प्रकट करने के लिए। सूर ने कदाचित् इसी कारण अनुकरण किया है। अन्य बातों में केवल कबीर का खरापन, सत्य-कथन, अपनी बात को साहस के साथ कहना ही सूर ने ग्रहण किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि सूर ने कबीर की भाषा को विकास की उच्चतम श्रेणी पर पहुँचा दिया, कबीर के भावों को भक्ति की ओर, निर्गुण भावना को सगुण भावना की ओर, और आध्यात्मिक उल्टे कथनों को साहित्यिक आवरणों की ओर झुका दिया। सूर ने कबीर से जो ग्रहण किया, उसे ऐसा आत्मसात् किया कि उनकी रचनाओं में उसे पाना दुष्कर है।

सूर और तुलसी में समता और विषमता दोनों मिलती हैं। संस्कृत के आद्य कवि वाल्मीकि के समान दोनों हिंदी के आद्य महाकवि हैं, जिनकी प्रतिभा ने हिंदी-साहित्य को अलंकृत ही नहीं किया, उसमें वृद्धि ही नहीं की, प्रत्युत उसे अमर बनाया है। केवल इस दो-

महाकवियों की रचना से ही हिंदी-साहित्य अमर होने की क्षमता रखता है। सूर और तुलसी दोनों सच्चे भक्त थे। एक कृष्ण के तो दूसरे राम के। दोनों प्रतिभाशाली, दोनों विद्वान और इष्टदेव के, रंग में रंगे हुए। ऐसे रंग में कि संसार ही उन्हें उस मय दिखाई दिया। वे जिये तो उनके लिए और मरे तो उनके लिए। उनके धर्म-कर्म, सिद्धान्त, ज्ञान-गौरव सब कृष्ण-राम ही थे। दोनों समकालीन भी थे। सूर भक्त और कवि हैं; पर तुलसी भक्त और कवि नहीं। भक्त और कवि से महत् लोक-दृष्टि के संपोषक व्यक्ति। सूर अपने इष्टदेव के सखापन और कवित्व को लेकर उतरे, तुलसी राम के दासत्व और सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर। सूर वर्णन करने की एवं संसार के मनोरंजक काव्योपयोगी विषयों को पैनी दृष्टि से देखने की शक्ति से समन्वित हैं, तो तुलसी में लोकदृष्टि और प्रकांड पांडित्य है। सूर ने जिस विषय का वर्णन किया उसे एक गेय पद के दायरे में पूर्णता से भर दिया। तुलसी ने जिस पर लेखनी चलाई उसमें कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। सूर ने कुछ पेटेन्ट विषय वर्णन के लिए लिये हैं और उन्हें उनकी चरम सीमा पर पहुँचा अपनी कलम का कमाल दिखाया है, पर तुलसी से कोई विषय ऐसा नहीं छूटा है, कोई अंग ऐसा शेष नहीं है, जिस पर उनकी निज की कोई छाप न हो। ऐसा मालूम पड़ता है कि तुलसी किसी स्पर्धा या प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं। सूर यह प्रकट करना चाहते थे कि जिस विषय पर मैं लिख रहा हूँ उस पर कोई लिख ही नहीं सकता; और तुलसी यह कि तुम किसी भी विषय का कैसा भी वर्णन करो, मुझमें इतनी क्षमता है कि मैं उस पर भी उतने ही अच्छे प्रकारसे लिख सकताहूँ, जितने अच्छे प्रकार से तुम। यह तो मानना पड़ेगा कि तुलसी सूर से अधिकांश में प्रभावित हुए हैं। सूर के विनय और भक्ति-संबंधी पदों का आभास हमें उनकी 'विनय-पत्रिका' में मिलता है। सूर का वात्सल्य

गीतावली और कवितावली के प्रारम्भ से। शायद सूर की प्रतिस्पर्धा के कारण ही तुलसी ब्रज भाषा में भी अपनी कुछ रचना अमर कर सके। 'विनय-पत्रिका' के तो कई पद सूर के पदों से मिलते हैं। ये गेय भी हैं और राग-रागिनियों में लिखे गये हैं। पर तुलसी ने संस्कृत-पदावलि को अपनाया है। सूर ने स्वाभाविक रूप से अपनी धारा को उद्‌गत होने दिया है। सूर ने राम का वर्णन किया है, इसलिए कि वे अवतारों का वर्णन करते हैं; तुलसी ऐसा न करते हुए भी कृष्ण का गुणगान करते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि सूर का तुलसी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यद्यपि तुलसी की प्रतिभा की चमक में वह इतना क्षीण और धुँधला दिखाई देता है कि लक्षित ही नहीं हो पाता। पर तुलसी सूर से प्रभावित अवश्य हुए हैं; यह निश्चित-सा है।

सूर के पश्चात् का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने सूर से किसी न किसी रूप में ऋण न लिया हो। किसी ने भाव किसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, किसीने भाषा, किसी ने वर्णन और किसी ने शैली। कुछ अन्य कवियों को लेकर देखा जाय तो वे भी भाषा भाव आदि के लिए महा कवि सूर के ही ऋणी दीख पड़ेंगे।

मीरा के कई पदों में सूर के पदों के ही भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। मीरा में जहाँ भक्ति के आवेश का उछाल है, वहीं किसी न किसी रूप में सूर के भावों का दिग्दर्शन है, पर मीरा ने कुशलता से उसे पति भक्ति की ओर मोड़ दिया है।

मतिराम, रसखान आदि कवि उन कवि-श्रेष्ठों में से आते हैं, जिन्होंने सूर की भाषा और भाव ग्रहण कर मुक्तक छन्दों में सफलता-पूर्वक उनके सौंदर्य की रक्षा की है। मतिराम ने तो भावों को ग्रहण कर बहुत कुछ दूसरा रूप दे डाला है, पर कौशल और प्रतिभा के

साथ । रसखान तो रस की खानि सूर के ही 'सरस पदों की माधुरी को उनसे निचोड़ और सवैयों में उसे सजा गये हैं । इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन्होंने सूर का अध्ययन किया था और चालू भाषा और छन्दों में उनके भावों को ढाला था । साधारण जनता सूर की कलात्मक प्रवृत्ति और विस्तृत साहित्य सागर में पैठने की असमर्थता के कारण उन्हें तो पहचान न सकी, पर जिन कवियों ने सूर के भावों को ग्रहण कर दूसरे रूप में जनता की मनोवृत्ति के अनुरूप रखा, उन पर जनता मुग्ध हो गई । रसखानि इसी श्रेणी के कवियों में आते हैं । इन्होंने बड़ी खूबी से सूर के भावों को अपना कर जन-सम्मान प्राप्त किया है । इधर अयोध्यासिंह उपाध्याय और रत्नाकर जी ने भी उन्हीं विषयों पर लेखनी चलाई है और बहुत कुछ सफल हुए हैं । उपाध्यायजी का प्रिय-प्रवास शान्त व काव्य माधुर्य से ओत-प्रोत है और उसमें विरह वर्णन बड़ी विशदता से किया गया है । उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह खड़ी बोली में नये रूप में लाया गया है, पर उपाध्याय-जी ने इसमें अपनी प्रतिभा का पूरा सदुपयोग किया है । 'रत्नाकरजी' ने भी उसी ढंग पर उद्धव शतक की रचना की है । इसमें व्यंग्य चोज और ओज उक्तियाँ और मनोरंजक कथोपकथन बहुत अच्छे हैं, पर उनमें न तो सूर का माधुर्य ही है और न सूर की स्वाभाविकता । प्रवाह और वेग अवश्य है । नंददास और सूर में भी कुछ अंशों में समता हो सकती है । अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् इन्हीं की गणना होती थी । सम्प्रदाय की दृष्टि से तो दोनों कवि एक हैं ही, पर साहित्य रचना की दृष्टि से भी दोनों में बहुत साम्य है । रास-पंचाध्यायी में नंददास के जो सिद्धान्त हैं वही सूर सागर में सूर के । सूर के भ्रमर गीतों और नंददास के भ्रमर गीतों में बड़ा साम्य है । नंददासने कुछ ही पंक्तियाँ सूर के मुकाबिले में लिखी हैं, पर जो हैं वे अनुपम हैं,

सरस, धार्मिक और विदग्ध हैं। उनमें यद्यपि सूर जैसा विस्तार, विभिन्न भावों का सन्निवेश नहीं है, पर उत्कृष्टता तो उनमें है ही।

वात्सल्य रस का जैसा मनोमुग्धकारी वर्णन सूर ने किया है वह हिंदी या संस्कृत अन्य भाषाओं में भी कठिनता से प्राप्त होता है। कालिदास का वात्सल्य-रस पर केवल एक छंद मिलता है, वह भी सूर के किसी उत्कृष्ट पद की समता नहीं कर सकता। अंग्रेजी साहित्य में तो इसका अभाव-सा ही है। कहीं कहीं अवश्य इस विषय पर कोई काव्य दृष्टिगोचर हो जाता है, पर जितनी विशद व्याख्या सूर में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमर ने यद्यपि एक स्थान पर ओडेसी नामक काव्य में थोड़ा वर्णन अवश्य किया है। वात्सल्य-रस में तो संसार का कोई भी कवि: सूर की जरा भी समता नहीं कर सकता। लांगफेलो शिशु का गुण-गान अवश्य करता है। लांगफेलो की वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

" You are better than all ballads,
That ever were sung or said ;
For ye are the living poems ;
And all the rest are deads "

शृंगार रस पर अवश्य प्रचुरता से आंग्ल-साहित्य मिलता है, पर ब्रजभाषा की भक्ति, अनन्यता और भारतीय दृष्टिकोण से देखने पर आंग्ल-साहित्य भी फीका लगता है। प्रकृति वर्णन में अवश्य वह सूर की समता कर सकता है, पर उनकी और सूर की वर्णन-शैली में महान अंतर है। सूर जिस प्रकार प्रकृति को देखते हैं, आंग्ल कवि नहीं; और आंग्ल कवि जिस प्रकार देखते हैं उस प्रकार सूर आज से २५० वर्ष पूर्व नहीं देख सकते थे। कीट्स, शैली, बायरन, वर्ड्सवर्थ आदि की समता कुछ अंगों में सूर से की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ

ठाकुर ही विश्व-कवि श्रेष्ठों में एक ऐसे लेखक दिखाई देते हैं, जिन्होंने बड़ी ही सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता से वात्सल्य-रस को अपनाया है और उसे आधुनिकतम रूप दिया है। इस विश्ववंद्य कवि ने वात्सल्य को अपनाकर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की समुचित रूप से रक्षा की है। सूर-सा सौंदर्य, निखरापन, वर्णन की सजीवता एवं स्वाभाविकता एक इन्हीं महाकवि में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस कवि का वर्णन बाह्य (Matter) का है। बालहृदयोचित सारल्य-पूर्ण है; किन्तु बालोचित प्रत्येक कथन उतना स्वाभाविक नहीं है। कहीं-कहीं तो वे अस्वाभाविक भी हो गये हैं। सूर का बालक जहाँ शिशु ही रहता है, वहाँ रविबाबू का शिशु बालक दिखाई देता है। कम वय के बालकों से निमित्त कल्पनात्मक कथन कभी-कभी उतने हृदयस्पर्शी नहीं होते। रविबाबू का बालक अपनी अवस्था से बड़ा प्रौढ़ और विद्वान सा दिखाई देता है, यद्यपि कभी-कभी यह अवश्य देखने में आता है कि बालकों के मस्तिष्क में भी अनोखी सूझें, कथन और कल्पनाएँ लहराया करती हैं। उत्तम पुरुष में लिखने के कारण ही कदाचित कतिपय अस्वाभाविक कल्पनाएँ उनकी कला में रंग लाई हैं। फिर सूर-सा सर्वांग-पूर्ण वात्सल्य-निदर्शन भी रविबाबू में नहीं है; किन्तु वे मनोमुग्धकारी और विदग्ध होती हैं। ऐसा ही कुछ कल्पनात्मक रूप रविबाबू में मिलता है।

नरेन्द्र साहित्य कुटीर, इन्दौर

के

प्रकाशनों का संक्षिप्त परिचय

आलोचना साहित्य

१ सूर: एक अध्ययन—दूसरा संस्करण

लेखक शिखरचन्द्र जैन, साहित्यरत्न। इसमें सूर साहित्य की गवेषणापूर्ण, सरस आलोचना है। सूर साहित्य के अध्ययन प्रेमी एवं अन्वेषकों के काम का तो यह है ही, साथ ही इन्टर से एम. ए. तथा प्रथमा से उत्तमा तक के छात्रों तथा समकक्ष अन्य परीक्षा के छात्रों के लिए भी उपयोगी है। मोनो, १२ पाइंट में पृ. सं. १६४ मू. २।)

२ नारी हृदय की अभिव्यक्ति—दूसरा संस्करण

ले. वही। इसमें 'यशोधरा' (रच. श्री गुप्तजी), 'नूरजहाँ' (रच. श्री गुरुभक्तसिंहजी) तथा 'ध्रुवस्वामिनी' (ले. श्री प्रसादजी) पर तीन सरस आलोचनात्मक निबंध हैं, और इनके चरित्रों के आधार पर नारी हृदय की मार्मिक, कचोटपूर्ण, सरस अनुभूति की सुन्दर, प्रभावक अभिव्यक्ति की गई है, जिससे ममतामयी नारी के हृदय के तल की कोमल मधुरतम, किन्तु विषादसंगी भावनाओं पर प्रकाश पड़ता है। पृष्ठ संख्या १४, मू. ।।।)

३ हिन्दी नाट्य चिंतन—

ले. शिखरचन्द्र जैन सा. र.। हिन्दी साहित्य में यह अपने विषय का पूर्ण, अनूठा, नवीन और मौलिक ग्रन्थ है। इसमें कला, नाट्य कला

हिन्दी नाट्य साहित्य एवं विचार-धाराओं के विभिन्न अंगों की विशद मार्मिक विवेचना एवं अधिकार पूर्ण व्याख्या है। इसमें हिन्दी के प्रमुख नाटककारों की सर्वांगपूर्ण सरस आलोचना है जो अब तक प्रकाशित अन्य ग्रन्थों में आपको नहीं मिलेगी। बाद के निकले ग्रन्थ भी इसकी समता नहीं कर सके हैं। प्रसाद के नाट्य साहित्य पर सब दृष्टि कोणों से-पूर्ण रूप से-प्रकाश डाला गया है, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं। पुस्तकालयों, हिन्दी के अध्यापकों, प्रोफेसरों, छात्रों तथा आलोचना प्रेमी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय है। पृष्ठ संख्या ४७० सजिल्द, मूल्य २.

४ प्रसाद का नाट्य चिंतन—

इसमें प्रसाद के नाट्य साहित्य के मूल उद्गमों, ऐतिहासिक घटनाओं, प्रसाद की अंतर्मुखी प्रवृत्तियों का नाट्य साहित्य से सामंजस्य, प्रसाद की विचार-धाराओं और उनके उद्गम और विकास के क्षेत्रों पर स्पष्टता और गंभीरता से सरल, भावपूर्ण, सही विवेचना प्रसाद के सब नाटकों को ध्यान में रख कर की गई है।

इस विषय पर अब तक कोई ग्रंथ इस कोटि का नहीं निकला है। अध्ययन प्रेमियों के अतिरिक्त इन्टर से एम. ए., प्रथमा, उत्तमा तथा समकक्ष परीक्षाओं के छात्रों के लिये भी अत्यंत उपयोगी है। प्रसाद के सब नाटकों की विविध साहित्य आलोचना इसमें पूर्णतः आ गई है। मूल्य २)

५ जीवन की बूंदें—

यह श्री शिखरचन्द्र लिखित दस सुन्दर भावपूर्ण मौलिक कहानियों का संग्रह है। पत्रों और आलोचकों ने इसकी खूब ही प्रशंसा की है। (पृष्ठ संख्या ८८, मूल्य १)

६ वासंती —

इसमें होनहार लेखकों की मुख्यतः वसंत पर लिखी हुई राष्ट्रीय भावोत्कर्षों की भावनाओं का संचार करने वाली आधुनिक कवितायें

संकलित हैं जो अन्यत्र प्रकाशित नहीं। पुस्तक रंग-बिरंगी स्याही में पाकेट साइज में छपी है। पृष्ठ संख्या लगभग ७६, मूल्य ॥)

७ मेरे बोल—

स्व. श्री रामचन्द्र शर्मा, 'नवजात' (इन्हें हि. सा. स. के सभापति पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का आशीर्वाद प्राप्त है। प्रगतिवादिनी मार्मिक और हृदय की कचोट को व्यक्त करने वाली कविताओं से पूर्ण इसके सिवाय कोई दूसरी पुस्तक आपको नहीं मिलेगी। जो आपको अपने युग के दैन्य और दरिद्र का इतना अच्छा चित्र खींच सके। मू. ॥।)

८ हमारे युग की कहानियाँ—

संपादक—श्री नूरअमल गर्ग, बी. ए. एल. एल. बी. सा. र. शिखरचन्द्र जैन साहित्य रत्न। इस युगान्तरकारी कहानी संग्रह में २६ होनहार प्रसिद्ध कहानी लेखकों की मौलिक सरस भाव पूर्ण और मार्मिक कहानियाँ संग्रहीत की गई हैं, जो गति, जीवन और सुदृष्टि देने वाली हैं। कहानी साहित्य पर ३० पृष्ठ की भूमिका सहित सजिल्द, पृष्ठ संख्या लगभग २७४, मूल्य १॥।)

९ हिंदी जैन साहित्य और समाज—

जैन साहित्य और समाज की मार्मिक आलोचना और निबंध पृष्ठ संख्या १२८, मूल्य १)

१० अखंड भारत—

उपयोगी, इसमें कहानी, कविता नागरिक कर्तव्य पर लेख, संवाद सभी कुछ है। मूल्य ।=)

११ युगांकिनी—

इसमें युग जीवन की संदेश वाहिका और समाज और संस्थाओं का सच्चा चित्र खींचने वाली कहानियाँ हैं। मूल्य १॥)

१२ रूपमती—

ले. श्री गोकुलचन्द्रजी उपाध्याय, 'निर्मोही' सा. र., मं. क. विशारद। यह इतिहास प्रसिद्ध माण्डु नगरी के निकटवर्ती प्रसिद्ध [illegible] [illegible]—जिस पर [illegible] के अनुसार [illegible] ने आक्रमण किया था—रूपमती—बाजबहादुर का सुन्दर, सरस भावपूर्ण कथा काव्य संवाद है मूल्य ॥)

१३ कलिकाएँ—

ले. जिनेन्द्रचन्द्र जैन साहित्य रत्न। यह अनूठी कलात्मक [illegible] कविताएँ हैं। [illegible] प्रेम, करुणा और वात्सल्य से भरी पुस्तक है। मूल्य १)

१४ गुनगुन—

कुमारावस्था की सरस कविताएँ। मूल्य ॥)

१५ बालकों और छात्रों की समस्याएँ

१६ जीवन को उत्थान देने वाले निबंध—

ले. शिखरचन्द जैन, साहित्य रत्न, नवयुवकों लड़कों और बालकों के जीवन को उत्थान की ओर ले जाने वाला सरल भाव और विचार पूर्ण [illegible] मूल्य १॥)

१७ युग जीवन के साहित्यिक निबंध—

ले. शिखरचन्द। इसमें आधुनिक साहित्यिक तथा अन्य समस्याओं पर विचारपूर्ण आलोचनात्मक तथा अन्य निबंध हैं। पुस्तक जिज्ञासु तथा अध्ययन और मननशील पाठकों, मैट्रिक, इंटर, बी. ए., एम. ए., प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, तथा अन्य परीक्षाओं की सफल परीक्षार्थी को [illegible]